ॐ श्रीपरमात्मने नमः
कल्याण
वर्ष ६२
संख्या २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,८५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१३, मार्च १९८८ ई०

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-महर्षि विश्वामित्रके साथ श्रीराम-लक्ष्मण [कविता]	५२१
२-कल्याण (शिव)	५२२
३-मनोबोध—१७ (समर्थ स्वामी रामदास महाराजकी वाणी) [अनु०—कुमारी रोहिणी गोखले]	५२३
४-श्रद्धा, विश्वास और प्रेम (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	५२५
५-सज्जन-दुर्जनकी परख	५२७
६-भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रसे शिक्षा (पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री, काव्यतीर्थ, कविरत्न, विद्याभास्कर)	५२८
७-रसाद्वैतमें भाव-देह (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	५३०
८-शुभाशा [कविता] (स्वामी श्रीसनातनदेवजी)	५३४
९-महर्षि पुलस्त्यकी सार्वजनीन शिक्षा (पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)	५३५
१०-साधकोंके प्रति—(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	५३७
११-पुरुषार्थकी प्रधानता (स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज)	५३९
१२-शिक्षाका मूल उद्देश्य एवं इसका महत्त्व (भोगवर्धनपीठाधीश्वर ब्रह्मनिष्ठ स्वामी श्रीकृष्णानन्दसरस्वतीजी महाराज)	५४०
१३-भारतीय संस्कृतिके शिक्षोपयोगी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ	५४३
१४-माँ विदुलाकी शिक्षा (पं० श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी)	५४४
१५-सुखदात्री गोमाता [कविता] (मदालसा नारायण)	५४७
१६-तमसो मा ज्योतिर्गमय (डॉ० श्रीवरुणकुमारजी तिवारी)	५४८
१७-भारतमें शारीरिक शिक्षा—बदलते प्रतिमान (श्रीचाँदमलजी वर्मा)	५५१
१८-स्वप्नकी परिणति (श्रीरामपुनीतजी श्रीवास्तव एम्० ए०)	५५५
१९-गीता-तत्त्व-चिन्तन (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	५५६
२०-भारतीय ज्योतिर्विज्ञान और उसकी शिक्षा (ज्यो० भू० पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी)	५५८
२१-नारी-शिक्षा (श्रीमती प्रभादेवी)	५६१
२२-पढ़ो, समझो और करो	५६२
२३-परमज्ञानका अधिकारी	५६४

चित्र-सूची

१-धनुर्धर भगवान् श्रीराम	(इकरंगा)	आवरण-पृष्ठ
२-महर्षि विश्वामित्रके साथ श्रीराम-लक्ष्मण	(रंगीन)	मुख-पृष्ठ

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें १.५० रु० विदेशमें २० पेंस

जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य (डाक-व्ययसहित) भारतमें ३८.००रु० विदेशमें ६ पौंड अथवा ९ डालर

संस्थापक—**ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका**

आदिसम्पादक—**नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**

सम्पादक—**राधेश्याम खेमका**

गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

महर्षि विश्वामित्रके साथ श्रीराम-लक्ष्मण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
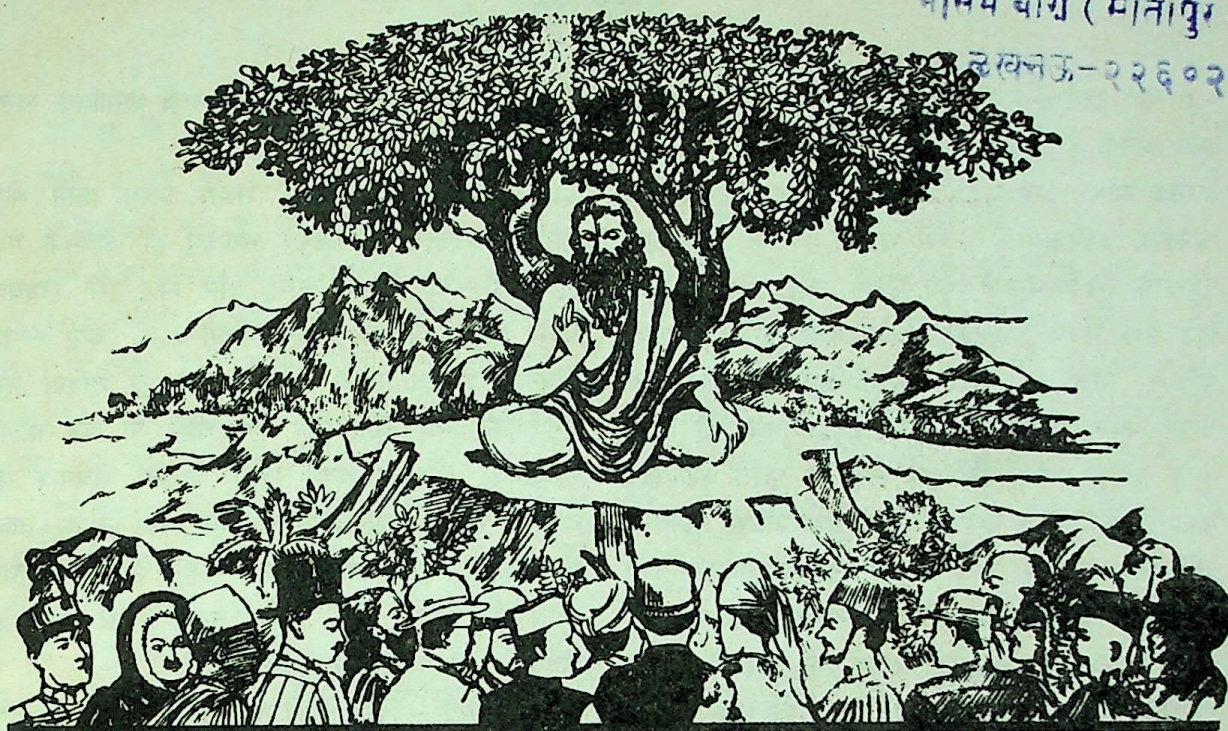
विद्या नाम नरस्य कीर्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो धेनुः कामदुघा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयं च सा ।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणं तस्मादन्यमुपेक्ष्य सर्वविषयं विद्याधिकारं कुरु ॥

वर्ष ६२ } गोरखपुर, सौर चैत्र, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१३, मार्च १९८८ ई० { संख्या ३ / पूर्ण संख्या ७३६

महर्षि विश्वामित्रके साथ श्रीराम-लक्ष्मण

दोउ राजसुवन राजत मुनिके संग ।
नखसिख लोने, लोने बदन, लोने लोयन, दामिनि-बारिद-बरबरन अंग ॥
सिरनि सिखा सुहाइ, उपबीत पीत पट, धनु-सर कर, कसे कटि निखंग ।
मानो मख-रुज निसिचर हरिबेको सुत पावकके साथ पठये पतंग ॥
करत छाँह घन, बरषैं सुमन सुर, छबि बरनत अतुलित अनंग ।
तुलसी प्रभु बिलोकि मग-लोग, खग-मृग प्रेममगन रँगे रूप-रंग ॥

(गीतावली १ । ५३)

कल्याण

याद रखो—भगवान् एक हैं, परंतु उनतक पहुँचनेके मार्ग अनेक हैं। साध्य—लक्ष्य एक है, परंतु उसे प्राप्त करनेके साधन अनन्त हैं। साध्य एक होनेपर भी साधनोंमें अनेकता अनिवार्य है। जैसे काशी एक है, पर काशी पहुँचनेके पथ विभिन्न हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—सभी दिशाओंके मनुष्य काशीको लक्ष्य बनाकर चलेंगे तो काशी पहुँचेंगे, परंतु वे चलेंगे अपनी-अपनी दिशासे तथा अपने-अपने मार्गसे ही। मार्गोंके अनुभव भी उनके पृथक्-पृथक् होंगे। कोई यह चाहे कि पूर्वसे आनेवाला पश्चिमसे आनेवालेके पथसे ही आये तथा उत्तरसे आनेवाला दक्षिणके पथसे ही आये तो जैसे यह चाहना भ्रममूलक है, वैसे ही भगवान्तक—अपने परम लक्ष्यतक पहुँचनेका साधन एक ही हो—यह मानना भी भ्रम है। रुचि, समझ, अन्तःकरणके स्वरूप, त्रिगुणोंकी न्यूनाधिकता, पूर्व-संस्कार, वातावरण आदिके अनुसार ही विभिन्न साधन होंगे। अतएव किसी भी भगवत्प्राप्तिके साधनकी न निन्दा करो, न किसीको देखकर लुभाओ। लक्ष्यपर नित्य दृष्टि रखकर अपने पथसे चलते रहो। भगवान् ही जीवनके परम साध्य हैं, इसे क्षणभरके लिये भी न भूलकर नित्य-निरन्तर अपने साधनमें लगे रहो। दूसरे क्या करते हैं, क्या कहते हैं, इसकी ओर न देखकर निरन्तर अपने मार्गपर सावधानीसे आगे बढ़ते रहो।

याद रखो—यदि तुम्हारे जीवनमें दैवी सम्पत्ति बढ़ रही है, मन विषयोंसे हट रहा है, भगवान्के प्रति आकर्षण अधिक हो रहा है, मनमें शान्ति तथा आनन्दकी वृद्धि हो रही है और ये धीमी या तेज जिस चालसे बढ़ रहे हैं तो समझ लो कि तुम उसी मात्रामें उत्तरोत्तर आगे बढ़ रहे हो और यदि तुम्हारे जीवनमें आसुरी सम्पत्ति बढ़ रही है, मन विषयोंकी ओर खिंच रहा है, भगवान्के स्मरणसे हट रहा है, मनमें अशान्ति तथा चिन्ताकी वृद्धि हो रही है और ये मन्द या तीव्र जिस गतिसे बढ़ रहे हैं तो उसी गतिसे तुम पीछे हट रहे हो, तुम्हारा पतन हो रहा है। अतएव सावधानीके साथ अपने जीवनकी भीतरी स्थितिको देखते रहो। तुम्हारा वही वास्तविक स्वरूप है, जैसी तुम्हारी भीतरी स्थिति है।

सबसे आवश्यक और सबसे प्रथम करने योग्य कार्य है—लक्ष्यका निश्चय। भगवान् ही जीवनके परम लक्ष्य हैं—यह निश्चय करना और फिर इसी लक्ष्यको सामने रखकर जीवनमें प्रत्येक भीतरी-बाहरी क्रिया करना। जीवनका निश्चित लक्ष्य भगवान् होंगे तो तुम्हारा मुख भगवान्की ओर होगा और तुम धीमी या तेज चालसे भगवान्की ओर ही बढ़ते रहोगे; क्योंकि जीवमात्र सब चल ही रहे हैं, कालचक्रमें पड़े हुए नित्य-निरन्तर चलते रहना ही संसारमें जीवका कार्य है। फिर वह चाहे भगवान्के सामने मुख करके उनकी ओर चले या विषयोंको सामने रखकर उनकी ओर।

याद रखो—हिमालयकी तपोभूमिकी ओर जानेवालेको जैसे आगे-से-आगे शीतलता (ठंडक), एकान्त भूमि, त्यागी साधु-महात्मा तथा शान्ति-सुख आदि मिलेंगे और इसके विपरीत गरम देशमें भोगमय बड़े-बड़े नगरोंकी ओर जानेवालेको उत्तरोत्तर गरमी, भीड़भाड़, भोगी-विषयी लोग—चोर-ठग-डाकू, अशान्ति, चिन्ता आदिकी प्राप्ति होगी, ठीक वैसे ही भगवान्की ओर जानेवालेको आगे-से-आगे दैवी सम्पत्ति, सत्संगति, विषय-वैराग्य, शान्ति, आत्मानन्द, पवित्र आचार-विचार आदि मिलते रहेंगे और भोगोंकी ओर जानेवालेको आसुरी सम्पदा, कुसंगति, विषयासक्ति, अशान्ति, भोगोंमें आनन्दका भ्रम, अपवित्र पाप-कर्मादि, दिन-रातकी जलन आदि प्राप्त होंगे। अतएव अपने-आपको इन लक्षणोंके अनुसार देख-जाँचकर निर्णय कर लो कि तुम किस ओर जा रहे हो और यदि दुःखमय अनित्य भोगोंकी ओर जा रहे हो तो तुम्हारे लिये दुःख तथा पतन निश्चित है, फिर भले ही तुम बुद्धिमान्, ज्ञानवान्, साधु, भक्त, महात्मा, नेता, अधिकारी, ऐश्वर्यवान् सुखी क्यों न समझे-कहे जाते हो या मानते हो। अतः तुरंत विषयोंकी ओर पीठ करके भगवान्के सामने मुख कर लो।—**'शिव'**

मनोबोध—१७

(समर्थ स्वामी रामदास महाराजकी वाणी)

अविद्यागुणें मानवा ऊमजेना ।
भ्रमें चूकलें हीत तें आकळेना ॥
परीक्षेविणें बांधलें दढ नाणें ।
परी सत्य मिथ्या असें कोण जाणे ॥ १४३ ॥

मानव अविद्याके कारण समझता नहीं। भ्रमवश जो हित भुला दिया, वह समझमें नहीं आता। जैसे परीक्षा किये बिना कोई सिक्का बाँध ले और वह सिक्का सच्चा है या झूठा यह कोई भी नहीं जान सकता।

[त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके प्रभावको सच मानना अविद्या है और जो दीखता है, वह नष्ट होता है, अतएव वह सब मिथ्या है, अर्थात् इस दृश्यजातको सच मानना अविद्या है, जो मनुष्यको बोध नहीं होने देती। इस प्रकृतिके मोहके कारण ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति ही जीवनका उद्देश्य है और वही परम हित है, यह बोध मायावश जीवको नहीं होता। 'मैं देह हूँ' इस भावना-रूप सिक्काको मनुष्य अपनी गाँठमें परीक्षाके बिना ही बाँध लेता है। जो सत्य है या मिथ्या—इसे कोई भी नहीं जानता। ऐसा सिक्का संसारमें हर कोई बाँध लेता है, परंतु श्रीसद्गुरुके चरणोंकी प्राप्ति होनेपर सिक्का खोलकर देखनेसे वह मिथ्या था, यह बोध हो जाता है। ऐसा सद्गुरु समर्थ स्वामी कहते हैं।]

जगीं पाहतां साच तें काय आहे ।
अती आदरें सत्य शोधूनि पाहें ॥
पुढें पाहतां पाहतां देव जोडे ।
भ्रम भ्रांति अज्ञान हें सर्व मोडे ॥ १४४ ॥

जगत्को देखते-देखते अत्यन्त आदरपूर्वक 'सत्य क्या है' यह खोजकर देखा करो। देखते-देखते परमेश्वरसे भेंट हो जाती है और भ्रान्तिमूलक भ्रम—अज्ञान नष्ट हो जाता है।

[चिकित्सक-बुद्धिसे जगत्को देखनेपर 'परमेश्वर ही सार तथा सत्य है' यह ज्ञान होता है—परमेश्वर-स्वरूपकी प्राप्ति होने लगती है। इससे भ्रम और अज्ञान नष्ट होकर संसार मिथ्या है—इसका ज्ञान होता है।]

[यहाँसे १५० श्लोकतकके श्लोकोंमें समर्थ सद्गुरु सत्यासत्यकी पहिचान कैसे करनी चाहिये, यह समझाते हैं।]

सदा वीषयो चिंतितां जीव जाला ।
अहंभाव अज्ञान जन्मास आला ॥
विवेकें सदा स्वस्वरूपीं भरावें ।
जिवा ऊगमीं जन्म नाहीं स्वभावें ॥ १४५ ॥

सदा विषय-चिन्तन करते रहनेके कारण ही जीव-दशा प्राप्त हुई है। अज्ञान और अहंकारने ही अन्तःकरणमें जन्म लिया है। अतएव विवेक करके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये—उसीमें लीन रहना चाहिये; क्योंकि जीवका उद्गम-स्थान परमात्मा है, अतः उसका जन्म स्वभावसे ही नहीं होता।

[सर्वप्रथम ब्रह्मने संकल्प करके सृष्टिकी रचना की। वह स्वयं अनेक रूप धारण करके संसारमें व्यक्त हो गया। जन्म-मृत्युका चक्र चलनेपर उन जीवोंमें व्यक्त ब्रह्मस्वरूप लुप्तप्राय हो गया। जीव ब्रह्मकी मायाका शिकार बनकर अज्ञान और अहंकारके प्रभावमें आकर सदाके लिये जीव-दशाको प्राप्त हुआ तथा अपने मूल स्वरूपको भूल गया। जीव-दशामें बहुत ही कष्ट है। अन्तःकरणमें अज्ञानके कारण अहंकार है। अतः विवेकपूर्वक स्वयंके ब्रह्मस्वरूपका बोध प्राप्त कर उसीमें लीन रहना चाहिये; क्योंकि जीव तो विषय-चिन्तन करनेके कारण जीव बना हुआ है। जन्म-मृत्युके चक्रमें घूमता है; किंतु ब्रह्ममें जन्म-मृत्यु दोनों नहीं हैं। वह अजन्मा और अमर है। विषय-चिन्तनका त्याग करके ब्रह्मचिन्तन ही करना चाहिये।]

दिसे लोचनीं तें नसे कल्पकोडी ।
अकस्मात आकारलें काळ मोडी ॥
पुढें सर्व जाईल कांहीं न राहे ।
मना संत आनंत शोधूनि पाहे ॥ १४६ ॥

हे मन! देखो, जो नेत्रसे दीखता है, वह लाख कल्पना करनेपर भी नहीं है; क्योंकि वह मिथ्या है। जो-जो साकार हुआ है, वह सारा-का-सारा प्रपञ्च कालके प्रभावसे नष्ट हो जाता है। यह संसार भी जो दीखता

है, पूर्णतः नष्ट हो जायगा। कुछ भी शेष न रहेगा। अतः जो अनन्त है, वह अन्त और नाशसे रहित है, उस अनन्त ब्रह्मको ही खोज कर देखा करो।

फुटेना तुटेना चळेना ढळेना।
सदा संचलें मीपणें तें कळेना॥
तया एकरूपासि दूजें न साहे।
मना संत आनंत शोधूनि पाहे॥ १४७॥

हे मन! वह ब्रह्म कभी टूटता-फूटता नहीं, वह अचल है, कभी स्वस्थानसे डिगता नहीं। वह सदा सब जगह भरा हुआ है; किंतु जीवकी अहंबुद्धिके कारण उस परब्रह्म परमात्माका ज्ञान और उसकी सर्वत्र उपस्थितिका ज्ञान जीवको नहीं होता। उस एकरस पूर्णब्रह्मको दूसरा सहन नहीं होता—द्वैत सहन नहीं होता। अतः उस अद्वैत, अनन्त तथा जगत्‌रूपमें व्यक्त एकरस ब्रह्मका—परमात्माका ज्ञान अहंकारको त्यागकर ग्रहण करो। सदा उसीको खोज करके देखो।

निराकार आधार ब्रह्मादिकांचा।
जया सांगतां शीणली वेदवाचा॥
विवेकें तदाकार होऊनि राहें।
मना संत आनंत शोधूनि पाहें॥ १४८॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इनका आधार निर्गुण-निराकार है। उस निर्गुण-निराकार परमात्माकी शक्तिके आधारपर ये तीनों अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। उस निराकारका वर्णन करते हुए वेदवाणी थक गयी और नेति-नेति कहने लगी। (**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**) वाणीकी जहाँ कोई सामर्थ्य नहीं, वहाँ विवेकपूर्वक तत्स्वरूप होकर रहो तथा उसी निर्गुण ब्रह्म अनन्त स्वरूपकी खोज करके देखो।

जगीं पाहतां चर्मचक्षीं न लक्षे।
जगीं पाहतां ज्ञानचक्षीं न रक्षे॥
जगीं पाहतां पाहणें जात आहे।
मना संत आनंत शोधूनि पाहें॥ १४९॥

जगत्‌में चर्म-चक्षुसे देखनेपर जो नहीं दीखता (इस स्वरूपको जाननेकी इच्छा व्यक्त करते ही अर्जुनके सद्गुरु श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'**न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥**' अर्थात् तुम इसी अपने चर्मचक्षुसे मुझ परमात्माको नहीं देख सकते, अतः मैं तुम्हें दिव्य चक्षु—ज्ञानचक्षु देता हूँ, उस चक्षुसे मेरे ऐश्वर्य योगस्वरूपको देखो), ज्ञानचक्षुसे देखनेपर जो छिपा नहीं रह सकता, जगत्‌को देखते-देखते देखनेकी क्रिया नष्ट हो जाती है, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन—इस त्रिपुटीका नाश हो जाता है, शुद्ध ब्रह्म ही शेष रहता है, उस अनन्त आत्मस्वरूपको खोजकर देखा करो।

नसे पीत ना श्वेत ना श्याम कांहीं।
नसे व्यक्त अव्यक्त ना नीळ नाहीं॥
म्हणे दास विश्वासतां मुक्ति लाहे।
मना संत आनंत शोधूनि पाहें॥ १५०॥

हे मन! वह परमात्मस्वरूप न पीत, न श्वेत, न श्याम, न व्यक्त और न अव्यक्त है। समर्थ रामदास कहते हैं कि उसपर विश्वास रखनेमात्रसे जीव मुक्तिको प्राप्त कर लेता है, अतः उस अनन्त ब्रह्मको खोजकर देखो।

[सद्गुरु समर्थ कहते हैं कि वह ब्रह्म न पीत, न श्वेत और न श्याम है। ब्रह्ममें कोई भी रंग नहीं है। वह सर्वथा रंगहीन है। वह व्यक्त नहीं है। जीवको सहज ही उसका दर्शन नहीं हो सकता। वह अव्यक्त भी नहीं है। अव्यक्त होता तो संसाररूपमें दृश्य नहीं हो सकता था। संसार व्यक्त है, उसका अनुभव होता है। पञ्च-ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा जगत्‌का ज्ञान होता है। वह जगत् ब्रह्मसे ही उत्पन्न है। ब्रह्म ही इस जगत्‌का रूप धारण करके व्यक्तावस्थाको प्राप्त हो गया है, अतः वह अव्यक्त नहीं है। ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा उसका अनुभव नहीं हो सकता अर्थात् ब्रह्म शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धहीन होनेके कारण ज्ञानेन्द्रियोंका विषय नहीं है, अतः उसपर केवल विश्वास रखनेमात्रसे जीव मुक्तिको प्राप्त करता है, ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर लेता है, जीव-दशासे मुक्त होता है, अतः अनन्त ब्रह्मको खोज करके देखो।] (क्रमशः)

(अनु०—कुमारी रोहिणी गोखले)

श्रद्धा, विश्वास और प्रेम

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रश्न—भगवान् और महात्मा पुरुषोंके प्रभाव और गुणोंको सुनकर भी श्रद्धा-विश्वास नहीं होता और उसके अनुसार तत्परतासे चेष्टा नहीं होती, इसमें क्या कारण है ?

उत्तर—भगवान् तथा महापुरुषोंके प्रभाव और गुणोंको सुनकर भी श्रद्धा नहीं होती—इसमें कारण है अन्तःकरणकी मलिनता और तदनुकूल चेष्टा न होनेमें कारण है श्रद्धाका अभाव। अन्तःकरणके अनुरूप ही श्रद्धा होती है। भगवान्ने कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(गीता १७। ३)

'हे भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है।'

अन्तःकरणकी मलिनता दूर होनेसे ही उत्तम श्रद्धा होती है और श्रद्धा होनेसे ही तत्परता होती है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

(गीता ४। ३९)

अन्तःकरणकी मलिनताको दूर करनेका उपाय इस समय सबसे बढ़कर भगवान्के नामका जप है। इसलिये कैसे भी हो—हठसे या प्रेमसे—नाम-जप करता रहे। नाम-जपसे अन्तःकरणकी मलिनता नष्ट हो जायगी, उसमें सात्त्विक श्रद्धा उत्पन्न होगी और फिर भगवान् तथा महात्माओंमें आप ही श्रद्धा हो जायगी और उनके कथनानुसार तत्परतासे चेष्टा होने लगेगी।

प्रश्न—सत्संग करते हैं, फिर भी मन जैसा होना चाहिये, वैसा नहीं होता—इसमें क्या कारण है ?

उत्तर—इसमें भी सत्संगका प्रभाव न जानना एवं अन्तःकरणकी मलिनता ही हेतु है। अन्तःकरण मलिन होनेसे सत्संगका रंग नहीं चढ़ता। मैला कपड़ा रंगमें डुबानेपर उसमें रंग अच्छा नहीं चढ़ता। स्वच्छ होता है तो रंग अच्छा चढ़ता है। (प्रेम, आसक्ति, रुचि, राग—इन सबका अर्थ एक ही है।) पारससे लोहा छुआ देनेसे लोहा सोना बन जाता है—यह बात सत्य है, किंतु बीचमें यदि व्यवधान होता है तो वह सोना नहीं बनता। इसी तरह महात्माओंके संगसे रंग चढ़ता ही है, किंतु यदि अविश्वासका व्यवधान होता है तो नहीं चढ़ता। जिन्हें पूर्ण विश्वास होता है उनके रंग चढ़ता ही है।

भगवान् न्यायकारी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, यह विश्वास हमारा हो जाय तो फिर हम एक भी पाप नहीं कर सकते। ईश्वरकी सत्ता मान लेनेसे ही पापका नाश हो जाता है। मानते हुए भी यदि हम पाप करते हैं तो यही समझना चाहिये कि किसी एक अंशमें ही मानते हैं, पूर्ण विश्वास नहीं है। सरकार जिस कामसे प्रसन्न नहीं है अर्थात् जो काम सरकारके प्रतिकूल है, उसे हम नहीं करते। परमात्मा सर्वज्ञ हैं, सर्वत्र हैं और सर्वसमर्थ हैं। जो कोई भी उन्हें सर्वज्ञ समझ लेता है, उससे पाप नहीं हो सकते।

प्रश्न—जैसे पिता पुत्रको अनुचित कामसे बलपूर्वक मना कर देता है, वैसे ही ईश्वरको भी मना कर देना चाहिये; पर वे मना क्यों नहीं करते ?

उत्तर—मना करते हैं—महात्मा पुरुषोंद्वारा—मनके द्वारा—सब प्रकारसे मना करते हैं, किंतु ईश्वरने जीवोंको स्वतन्त्रता दे रखी है। इसलिये जीव परतन्त्र होनेपर भी स्वतन्त्र है। जैसे हमें बंदूक चलानेका लाइसेंस है। हम राजाके कानूनोंके हिसाबसे ही बंदूक चला सकते हैं। कानूनसे बँधे हुए हैं, किंतु फिर भी हम चाहे जिस किसीपर कानूनके विरुद्ध भी चला तो सकते हैं न ? फिर चाहे दण्ड मिले। ठीक वही बात यहाँ भी है।

प्रश्न—जब कभी कोई बात एक-दो मिनटोंके लिये समझमें आ जाती है तो वह ठहरती क्यों नहीं ? ईश्वरको उसे ठहरा देना चाहिये—इतनी तो सहायता करनी ही चाहिये।

उत्तर—भगवान्से जो सहायता चाहता है, उसे सहायता मिलती है। जो यह प्रार्थना करता है कि हे भगवन् ! मेरा मन निरन्तर भजन-ध्यानमें लगा रहे तो उसे भगवान् सहायता देते हैं। सामान्य सहायता तो सबको है, किंतु जो विशेष

सहायता चाहता है, उसे दी जाती है। इसलिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे कि वह स्थिति छूटे नहीं। जिसका ऐसा विश्वास है कि मैं भगवान्‌की शरण हूँ—मेरी धारणाको दृढ़ और अन्तःकरणकी शुद्धि भगवान् ही करते हैं, उसकी हो जाती है। एक सज्जन चाहते हैं कि मैं अमुकके आज्ञानुकूल चेष्टा करूँ, कभी-कभी कुछ चेष्टा भी करते हैं, पर अवसर पड़नेपर पीछे हट जाते हैं तो यही समझना चाहिये कि उनका इस बातमें पूरा विश्वास नहीं है कि चाहे प्राण भले ही चले जायँ, इनकी आज्ञा ही पालनीय है। यदि भगवान्‌में पूरा विश्वास करके भगवान्‌से सहायता माँगे तो भगवान् इसके लिये भी सहायता दे सकते हैं।

प्रश्न—श्रद्धा, प्रेम और दयापर कुछ विशेष रूपसे कहिये ?

उत्तर—ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे कहनेकी आदत पड़ गयी है और आपलोगोंको सुननेकी। बार-बार कहा जाता है। आप सुनते ही हैं, किंतु जबतक बात समझमें नहीं आती, काममें नहीं लायी जाती, तबतक सदा ही नयी है और सदा ही बार-बार सुननेकी आवश्यकता है।

बात है बड़ी अच्छी। इसमें कुछ भी खर्च नहीं होता। मूर्ख-से-मूर्ख भी इसे कर सकता है। इसमें बल, बुद्धि, धन, जाति, वर्ण या कुल—किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। यह साधनकालमें भी प्रत्यक्ष शान्ति देनेवाली है। फिर सुनकर भी यदि काममें नहीं लायी जाती तो यही समझना चाहिये कि विश्वासकी कमी है। संसारमें जो प्रत्यक्षमें सुख-शान्ति देनेवाली होती है, उसे तो लोग करनेके लिये तैयार रहते हैं। फिर यह तो आदि, मध्य और अन्त—सर्वत्र आनन्द देनेवाली है। अभी आरम्भ कीजिये, अभी शान्ति-आनन्द तैयार है। यह नहीं कि कोई घंटे-दो-घंटे बाद आनन्द मिलेगा।

बात यह है—प्रथम तो यह विश्वास कर लेना चाहिये कि परमात्मा दीखते नहीं—तब भी हैं और सर्वत्र हैं, जैसे प्रेत दीखता नहीं है, पर है—ऐसी झूठी कल्पना करके भी लोग भयभीत और दुःखी हो जाते हैं। फिर सच्ची धारणा करनेपर सुख और शान्ति प्रत्यक्ष मिलें, इसमें तो कहना ही क्या है ? इसलिये परमात्मा न भी दीखें तो भी मान लेना चाहिये कि वे हैं—अवश्य हैं।

ईश्वर दयालु हैं, प्रेमी हैं। उनकी दया और प्रेम सर्वत्र परिपूर्ण हो रहे हैं। अणु-अणुमें उनकी दया और प्रेमको देख-देखकर हमें मुग्ध होना चाहिये, सर्वदा प्रसन्न रहना चाहिये और इसे साधन बना लेना चाहिये। इसमें न कुछ परिश्रम है और न किसी अन्य वस्तुकी आवश्यकता है।

ईश्वरकी दया और प्रेम अपार है—असीम है। यह बात मनमें है तो ईश्वरकी स्मृति निरन्तर रहनी चाहिये। सर्वत्र ईश्वरकी दया और प्रेम परिपूर्ण हैं, जैसे बादलमें सर्वत्र जल परिपूर्ण है। दया और प्रेमका बड़ा भारी समुद्र उमड़ा हुआ है—भरा हुआ है। उसमें अपने-आपको डुबो दें। चारों ओर बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर सर्वत्र ईश्वरकी दया और प्रेमका समुद्र परिपूर्ण है। जैसे सूर्यकी धूपमें हम बैठते हैं—हमारे चारों ओर धूप-ही-धूप पूर्ण है, उसी तरह परमात्माकी दया और प्रेम सर्वत्र पूर्ण है। सूर्यका प्रकाश तो केवल बाहर ही है; किंतु दया और प्रेम तो बाहर-भीतर सर्वत्र पूर्ण हो रहे हैं। इस प्रकार देख-देखकर हर समय मुग्ध होते रहना चाहिये। अहा ! हम धन्य हैं। हमपर ईश्वरकी कितनी भारी दया है। सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुमें ईश्वरकी दयाका दर्शन करें और इसी प्रकार प्रेम बढ़ावें।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(गीता ५। २९)

ईश्वर परम सुहृद् हैं। सुहृद्‌का अर्थ क्या है ? दया और प्रेम जिसमें हो, उसका नाम सुहृद् है। उसकी दया और प्रेम अनन्त हैं, अपार हैं, अणु-अणुमें, कण-कणमें व्याप्त हो रहे हैं। एक बादशाहकी दया हो जाती है तो आनन्दका ठिकाना नहीं रहता। एक महात्माकी दया हो जाती है तो आनन्द समाता नहीं, फिर ईश्वरकी दया तो अपार है। फिर क्या बात है ? (सहजमें ही हमारी स्थिति बदल सकती है। हम बहुत शीघ्र परमात्माको पा सकते हैं।) हर समय यह भाव जाग्रत् रहना चाहिये—अहा! ईश्वरकी हमपर कितनी दया है। ईश्वरका हमपर कितना प्रेम है। सबपर समानभावसे अपार दया है। जब इतनी दया है, तब हमें भय, चिन्ता, शोक करनेकी क्या आवश्यकता है। हम चिन्ता, भय करें यह तो हमारी मूर्खता है। भय किसका ? न वहाँ भय है, न चिन्ता है, न मोह है।

यह हमारी अज्ञानता थी—हम जानते नहीं थे कि प्रभु इतने दयालु हैं। अब कहाँ चिन्ता? कहाँ भय? कहाँ शोक? प्रभुकी अपार दया है—यह साधन बना लें। हर समय ध्यान रखें, मनसे इस प्रकार अनुभव करें तो उसी समय शान्ति और आनन्दका भण्डार भरा पड़ा है। इस साधनसे थोड़े कालमें ही साक्षात् प्रभुकी प्राप्ति हो जाय।

एक समृद्धिशाली पुरुष है, स्वप्नमें भिखारी बन गया, इसलिये दुःखी हो रहा है, किंतु जागनेपर दुःख कहाँ? दुःख था ही नहीं, उसने बिना हुए ही दुःख मान लिया। इसी तरह हम भी अज्ञानताके कारण ही दुःखी हो रहे हैं। ईश्वरकी दया और प्रेम तो सर्वत्र पूर्ण हो ही रहे हैं। हम मानते नहीं, तभी हम दुःखी होते हैं, पर हम नहीं मानते हैं, उस समय भी ईश्वरकी दया तो है ही। बस, मान लें तो आनन्द-ही-आनन्द है। ऐसा अमृतमय आनन्द प्रत्यक्ष है, इसमें कुछ भी शङ्का नहीं है, फिर उसे क्यों छोड़ते हैं? **'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्'**—प्रत्यक्ष आनन्दका अनुभव हो रहा है, फिर उसमें प्रमाण क्या? केवल मान लेना ही साधन है। जप या ध्यान—कुछ भी करनेकी बात नहीं कही। केवल मान लो, बस, इतना ही करना है। वह परम सुहृद् है, जिसमें अपार दया हो—हेतुरहित प्रेम हो। भगवान्‌की अपार दया है। वे अपार दयादृष्टिसे हमें देख रहे हैं, फिर किस बातकी चिन्ता है। माता स्नेहसे बच्चेको पकड़कर यदि फोड़ेको चिरवा रही है तो चिन्ता क्यों करनी चाहिये? माँ देख रही है न? बच्चा यदि रोता है तो उसका बालकपन है। समझदार तो रोता भी नहीं। हमपर कोई भी दुःख आवे तो समझना चाहिये—हमारी माँ, भगवान् हमें सुखी करनेके लिये, पवित्र करनेके लिये गोदमें लेकर चिरवा रहे हैं।

कितनी दयाभरी दृष्टि है। अपार दयाकी छटा छायी हुई है। कोई स्थान उनकी दया और प्रेमसे खाली नहीं। उनकी दया, प्रेम सर्वत्र परिपूर्ण हो रहे हैं। वे दर्शन देनेको तैयार हैं। वे सब प्राणियोंके सुहृद् हैं। यदि पूर्ण विश्वास हो जाय कि भगवान् हमें दर्शन देंगे तो उसी क्षण उन्हें दर्शन देना पड़ेगा, एक क्षण भी वे नहीं रुक सकेंगे।

नास्तिक पुरुषोंको तो विश्वास नहीं है। वे समझते हैं कि ईश्वर है या नहीं। जिनका होनेमें विश्वास है, वे समझते हैं कि पता नहीं मिलते हैं या नहीं। दूसरे यह समझते हैं कि मिलते तो हैं, पर बहुत भजन-ध्यान करनेसे मिलते हैं। यह भी भूल है। भगवान् बड़े ही दयालु हैं। यदि भजन-ध्यान कराकर मिलते हैं तो फिर दयालु क्या हुए? यदि हम दृढ़ विश्वास कर लें कि वे तो बड़े ही दयालु हैं, उनके न मिलनेमें हमारी अज्ञानता ही कारण है। हमें मिलेंगे, अवश्य मिलेंगे और आज ही मिलेंगे—ऐसा दृढ़ निश्चय कर लें तो आज ही मिल जायँगे, इसमें तनिक भी शङ्का नहीं है।

सज्जन-दुर्जनकी परख

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्ये चान्यद् दुरात्मनाम्। मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्॥

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्तेऽपि हि सज्जनाः। अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः॥

'दुर्जनोंके मनमें कुछ और, वाणीमें कुछ और एवं क्रियामें कुछ और होता है, परंतु सज्जनोंके मन, वाणी और कर्ममें एक-सा ही होता है। सज्जन नारियलकी भाँति अंदरसे कोमल और सुन्दर होनेपर भी ऊपरसे कठोर तथा जटिल दीखते हैं और दुर्जन बेरकी तरह अंदरसे कठोर और असुन्दर होकर ऊपरसे कोमल और मनोहर लगते हैं।'

भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रसे शिक्षा

(पं॰ श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री, काव्यतीर्थ, कविरत्न, विद्याभास्कर)

[गताङ्क पृ॰ ४८७ से आगे]

अब श्रीकृष्ण-चरित्रसे मिलनेवाली कुछ शिक्षाओंका उल्लेख किया जा रहा है—

(१) भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने मक्खन, मिश्री, दूध, दही आदि सात्त्विक आहारको स्वीकार करके हमलोगोंको दिखला दिया है कि इस प्रकारके आहारसे प्रेम करनेवाला मनुष्य 'गीता'-जैसे लोकोपकारी लोकोत्तर ग्रन्थरत्नकी रचना कर सकता है।

(२) चराचरके अधीश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने स्वयं तन, मन, धनसे गौओंकी सेवा करके सिद्ध कर दिया है कि गौओंकी शुद्ध अन्तःकरणसे सेवा करनेवाला मनुष्य सदा सुखी, हृष्ट-पुष्ट, नीरोग, निःशोक, यशस्वी और सर्वप्रिय होता है।

(३) वृन्दावनविहारी, यमुनाकूलचारी, पीताम्बरधारी, भक्तभयहारी, दयाधाम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने कन्दुक-क्रीडाके मिससे 'कालिय'-नामधारी महाभयकारी दारुण विषधरका मद चूर्ण करके शिक्षा दी है कि अपने देशवासियोंके हितार्थ प्राणोंकी भी ममता छोड़कर उद्योग करना चाहिये।

(४) दुराचारी कंसकी सेवामें रहकर भी सदाचारकी रक्षा करनेवाली 'कुब्जा'के दिये हुए अनुलेपनसे प्रसन्न होकर गोवर्धनधारी, मार-मदहारी, मुनिमानसचारी, प्रणतवत्सल, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, दीनबन्धु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने उसकी सुन्दरताको न्यून बनानेवाले उसके कूबड़को सर्वथा दूर करके दिखला दिया है कि अभिमानसे रहित, सदाचारपरायण, परमात्मामें विश्वास रखनेवाले, समदर्शी, नित्यसंतुष्ट, सात्त्विक जीवोंके सब अनिष्ट इस प्रकार अनायास दूर हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्यके उगनेपर घोर अन्धकार दूर हो जाता है।

(५) न्यायमूर्ति भगवान् यदुनन्दनने अपने सगे मामा कंसका वध करके शिक्षा दी है कि अन्याय करनेवाला, वेदमार्गको लुप्त करनेवाला, वर्णाश्रमधर्मको छिन्न-भिन्न करनेवाला, दुष्टोंकी सहायता करनेवाला, सज्जनोंको दण्डित करनेवाला, देव-मन्दिरोंको तोड़नेवाला, वाममार्गका प्रचार करनेवाला मनुष्य चाहे अपना कितना ही घनिष्ठ सम्बन्धी क्यों न हो, लोकहितके लिये उसका वध परमावश्यक है। साथ ही प्रभुने इस चरित्रके द्वारा यह भी प्रकट कर दिया कि अन्यायीका वध न्यायसंगत, धर्मानुकूल और परम पावन कर्तव्य है।

(६) प्रातःस्मरणीय, पूज्यपाद, पवित्रयशा, धर्ममूर्ति, धर्मावतार, भगवद्भक्तितरङ्गिणी-पवित्रकृतान्तःकरण, ज्येष्ठ पाण्डव, महात्मा युधिष्ठिरजीके राजसूय-यज्ञमें वेदज्ञ, तपस्वी, यथालाभसंतुष्ट, परोपकारी, जितेन्द्रिय, सहनशील, धृतव्रत, ब्राह्मण-अभ्यागतोंके पादप्रक्षालनका सेवाकार्य सहर्ष स्वीकार करके प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने दिखला दिया कि **'सर्वस्याभ्यागतो गुरुः।'**—अभ्यागत सबके गुरु हैं।

(७) भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण आदि लोकविश्रुत धर्मज्ञ वीररत्नोंके समक्ष भरी सभामें दुराचारी उद्दण्ड दुर्योधनकी आज्ञासे पापात्मा दुःशासनने प्रातःस्मरणीया, भारतकी एकमात्र सम्राज्ञी श्रीद्रौपदीको भगवान् विष्णुके बाहुदण्डोंके समान अजेय, देव-देव पिनाकपाणि भगवान् शंकरके समान दुर्धर्ष, तारकनिकन्दन कार्तिकेयके समान अप्रतिहत-शक्तिसम्पन्न, परम आदरणीय धर्मप्राण पाँचों पाण्डवोंकी विद्यमानतामें उनके प्रतिज्ञाबद्ध होनेके कारण निःशङ्क होकर विवस्त्रा करनेका उद्योग किया, उस समय दावाग्निमें पड़ी हुई मृगीके समान कातर-दृष्टिसे चारों ओर देखकर सतायी कुररीके सदृश करुण-क्रन्दन करती हुई द्रौपदीने पाषाणको भी द्रवीभूत कर सकनेवाले शब्दोंसे सभामें उपस्थित सभी वीरपुङ्गव नर-रत्नोंसे अपने उद्धारकी प्रार्थना की, किंतु दुर्योधनके भयसे कर्तव्य करनेमें असमर्थ उन लोगोंने उसकी पुकारपर कोई ध्यान नहीं दिया; तब उसने सब ओरसे निराश होकर अनाथोंके नाथ, अशरणके शरण, निर्बलके अवलम्ब, दुखियोंके सहायक, पतितपावन,

दीनबन्धु, सर्वव्यापक, जगन्नियन्ता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजका शुद्ध अन्तःकरणसे ध्यान करके उनसे अपने उद्धारकी प्रार्थना की, तो दयामय, लीला-पुरुषोत्तम, आपन्न-उद्धारक श्रीप्रभुने तत्क्षण वस्त्ररूप होकर परमभक्ता द्रुपद-नन्दिनीकी लज्जाकी रक्षा करके पापात्मा दुर्योधन आदिके गर्वको खर्व कर दिया और संसारको दिखला दिया कि अनन्यभावसे चिन्तन करनेवालोंसे मैं किंचित् भी दूर नहीं हूँ।

(८) दुर्योधनकी सेवासे प्रसन्न होकर सुलभकोप, दुर्धर्ष, परम तेजस्वी, तपोनिष्ठ, ब्रह्मतेजसम्पन्न महर्षि दुर्वासा जब उसके समक्ष महारानी श्रीद्रौपदीके भोजनके पश्चात् दस सहस्र शिष्योंसहित पाण्डवोंका अतिथि होना स्वीकार करके धर्मावतार श्रीयुधिष्ठिरजी महाराजके सम्मुख उपस्थित हुए तो उस समय सच्चे क्षत्रिय परम धार्मिक पाँचों पाण्डव चिन्तारूपी समुद्रमें बारंबार गोते खाते हुए अपने उद्धारका कोई मार्ग न देखकर प्राणान्तसे भी अधिक दुःखका अनुभव करने लगे। तब साध्वी द्रौपदीने निःस्वार्थ सहायक, दीनोंके आधार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजका आर्तभावसे स्मरण किया, तो उन्होंने तत्काल ही प्रकट होकर अन्नपात्रमें अवशिष्ट एक शाकपत्रका कुछ अंश भक्षण करके शिष्योंसहित दुर्वासाको आकण्ठ तृप्त करके अपने सर्वव्यापकत्व और आर्तपरित्राणकारित्वका पूर्ण परिचय दे दिया।

(९) पाण्डवोंका अज्ञातवास समाप्त होनेके अनन्तर कौरव और पाण्डवोंमें मनमुटावकी भीषणताके कारण युद्धकी सम्भावना देखकर स्वयं राजराजेश्वर होकर भी एक दूतके समान कौरवोंकी सभामें जाकर शान्तिस्थापनकी भरपूर चेष्टा करके प्रभुने दिखला दिया कि सज्जन मनुष्यको चाहिये कि अपने मानापमानका ध्यान छोड़कर जाति और देशके हितके लिये परस्पर बढ़ती हुई कलहाग्निको शान्त करनेका यथासाध्य भगीरथ-प्रयत्न करे।

(१०) धृतराष्ट्र, दुर्योधन, द्रोण, कर्ण, भीष्म आदिके भोजनके निमन्त्रणको अस्वीकार करके प्रभुने दिखला दिया कि अभिमानी और अन्यायी मनुष्योंके उत्तम-से-उत्तम भोजनसे मनुष्यको सर्वथा बचना चाहिये।

(११) इसी अवसरपर शान्त, दान्त, निरभिमानी, भगवद्भक्त, परोपकारी, परमत्यागी, दीन विदुरजीके घरपर भोजन स्वीकार करके प्रभुने बतला दिया कि प्रेमी सज्जनोंका दिया हुआ सामान्य द्रव्य भी सहर्ष स्वीकार करना चाहिये।

(१२) महाभारत-युद्धके आरम्भमें अर्जुनको 'किंकर्तव्य-विमूढ़' देखकर गीताके उपदेशद्वारा कर्तव्य-पथपर आरूढ कराकर भगवान्ने दिखला दिया कि सच्चे मित्रका कर्तव्य अपने मित्रको अकर्तव्यसे हटाकर कर्तव्यमें लगाना है।

(१३) भीष्मके साथ युद्ध करते समय अर्जुनकी उपेक्षाके कारण अपने भक्त युधिष्ठिरकी सेनाका भीषण संहार होते देखकर 'मैं युद्धमें शस्त्र नहीं उठाऊँगा'— अपनी इस प्रतिज्ञाकी परवा न करके भीष्मके वधार्थ रथका चक्र उठाकर प्रभुने दिखला दिया कि अपने आश्रितोंकी रक्षाके सम्मुख मेरी प्रतिज्ञाका कोई मूल्य नहीं।

(१४) नारदजीके शापसे यदुवंशके नाश होनेकी सम्भावना देखकर भी प्रभुने यदुवंशियोंकी रक्षाका कोई उपाय न करके यह दिखला दिया कि अभिमानी, असत्यवादी, दुराग्रही, अपने कुलवालोंको भी अन्यायका दण्ड मिलनेपर किसी प्रकार उनकी सहायता न करे।

(१५) बाल्यावस्थाके मित्र, सहाध्यायी, बहुत दिनके बिछुड़े हुए, परम दरिद्र, गुरुभाई सुदामाजीका सीमाधिक आदर करके और उनके बिना कहे भी उन्हें अपने तुल्य समृद्धिमान् बनाकर प्रभुने दिखला दिया कि सच्चा मित्र कैसा होता है।

इन सभी आचरणोंसे भगवान् श्रीकृष्णने मानवमात्रको अद्भुत शिक्षा दी है। इनमेंसे थोड़ा भी आचरण परम कल्याणप्रद है। उन्होंने ही कहा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(गीता २। ४०)

रसाद्वैतमें भाव-देह

[स्वरूप, साधना और सिद्धि]

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध चिन्मय, शुद्ध आनन्दमय, शुद्ध प्रेममय और शुद्ध रसमय हैं तथा ये श्रीकृष्णकान्ता गोपियाँ (श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति राधा और श्रीराधा-कृष्णका सदा मिलन-संयोग करानेमें ही नित्य संलग्न रहनेवाली एवं श्रीराधासे भी बढ़कर सुखानुभव करनेवाली सखियाँ) शुद्ध चिन्मयी, शुद्ध आनन्दमयी, शुद्ध प्रेममयी और शुद्ध भावमयी हैं। ये और इनकी देहादि हमलोगोंकी भाँति वस्तुतः रक्त-मांसमय नहीं हैं, प्रापञ्चिक या कल्पित नहीं हैं, कर्मजन्य सुख-दुःखके भोग-निमित्त नहीं हैं, अपितु नित्य हैं। ये प्रपञ्चमय मायिक जगत्में प्रकट होनेपर भी, मृत्युलोकमें लीला करनेपर भी मरणधर्मसे सर्वथा अतीत हैं। प्रेमसे छलकते हुए दिव्य नेत्रोंसे ही इनकी दिव्य मूर्तियोंके और नित्यरासके दर्शन हो सकते हैं।

प्राकृत जीवोंकी भाँति न तो भगवान् माताके गर्भमें आते हैं, न कर्मपरवश उनका जन्म होता है और न उनका विग्रह ही उनसे भिन्न—पाञ्चभौतिक होता है। वे भगवान् स्वेच्छामय दिव्य वपुमें प्रकट होते हैं।

यहाँ यह बात भी जान लेनी चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर और उनका आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं हैं। वे सर्वतोरूपेण सच्चिदानन्दरसमय हैं। उनके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अङ्ग, अवयव—सभी अप्राकृत, भगवत्स्वरूप हैं। उनकी वह स्वरूपभूत भगवद्देह नित्य-अवितर्क्य-ऐश्वर्यसम्पन्न चिन्मय है और परिच्छिन्न होकर भी विभु है। वे कर्मवश पाञ्चभौतिक देह नहीं धारण करते, स्वेच्छासे अपने नित्य सच्चिदानन्दवपुको प्रकट करते हैं—**'स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि'** (श्रीमद्भागवत १०। १४। २)।

पद्मपुराण-पातालखण्डमें भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही दूसरे लीलास्वरूप भगवान् श्रीरुद्रको दर्शन देकर अपने निराकार, निर्गुण, व्यापक, निष्क्रिय ब्रह्मरूपकी व्याख्या करते हुए कहा है—'रुद्र! तुम इस समय मेरे जिस अलौकिक अप्राकृतिक दिव्य रूपको देख रहे हो, यह निर्मल प्रेमका पुञ्ज है, सच्चिदानन्दमय है। मेरा यह रूप पाञ्चभौतिक आकारवाला नहीं है तथा दिव्य चक्षुओंसे ही यथार्थ देखा जाता है, इसलिये वेद इसे 'निराकार' कहते हैं। प्राकृतिक सत्त्व-रज-तम मेरे गुण नहीं हैं, वे अप्राकृत—स्वरूपभूत हैं तथा उन दिव्य गुणोंका अन्त नहीं है, इससे मुझे 'निर्गुण' कहा गया है। मैं अपने चैतन्य अव्यक्तरूपसे सर्वत्र व्यापक हूँ, इससे मुझे 'व्यापक' ब्रह्म कहा जाता है। मैं इस प्रपञ्चका कर्ता नहीं हूँ, मेरे अंश ही मायामय गुणोंके द्वारा सृष्टि आदि कार्य करते हैं, इसलिये शास्त्र मुझे 'निष्क्रिय' कहते हैं। अतएव श्रीकृष्णका श्रीविग्रह नित्य सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णस्वरूप ही है।

इन श्रीकृष्णकी प्रेयसी कान्ताओंमें श्रीराधा सर्वशिरोमणि हैं और इन सबकी मूल शक्ति एवं सबके मस्तकोंके मुकुट-स्वरूप स्वयं श्रीकृष्णकी भी मणिस्वरूपा हैं। इन श्रीराधाके चित्त, इन्द्रिय, शरीर, बुद्धि और अहंकार—सभी ह्लादिनीके साररूप श्रीकृष्ण-प्रेमके द्वारा ही गठित हैं, प्राकृत रक्त-मांसादिके द्वारा नहीं। ये श्रीराधा विशुद्ध, परिपूर्ण, सबको पवित्र करनेवाले मधुर प्रेमकी सुधा-धारा हैं, जो सदा सबको सुधा-प्लावित करती रहती हैं।

इस प्रेमका जो सार है, वही राधा बन गया है। ये श्रीकृष्णकी परमोत्कृष्ट प्रेयसी हैं। श्रीकृष्णकी वाञ्छाको पूर्ण करना ही इनके जीवनका कार्य है। इनमें काम-क्रोध, बन्ध-मोक्ष, भुक्ति-मुक्ति—कुछ भी नहीं है। श्रीकृष्णकी इच्छाको पूर्ण करना—यही इनका स्वरूप-स्वभाव है।

श्रीराधा प्रेमकी पराकाष्ठास्वरूप 'महाभाव'-रूपा हैं। वे समस्त कल्याण-गुणगणकी आकर (खान) और श्रीकृष्ण-कान्ता-शिरोमणि हैं। जड प्रकृतिसे संयुक्त जीवोंकी भाँति उनके जड इन्द्रियाँ, जड शरीर और सूक्ष्मदेहरूप जड चित्त नहीं हैं। उनके दिव्य चिन्मय स्वरूपमें नित्य शुद्ध चिन्मय

इन्द्रियाँ, चिन्मय शरीर और चिन्मय चित्त हैं। उनकी समस्त इन्द्रियाँ, उनका शरीर और उनका चित्त नित्य-निरन्तर स्वाभाविक ही दिव्य श्रीकृष्ण-प्रेमसे परिभावित है।

साधनाका प्रारम्भ ही भावनासे होता है। भावनाके मूलमें है श्रद्धा। श्रद्धाहीन भाव मिथ्या है। भाव करते-करते भगवत्कृपासे सच्चे भावराज्यमें प्रवेश होता है—साधक स्थूलसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतममें प्रवेश करता है। वहाँ उस दिव्य भावनालोकमें प्रवेश करके भगवान्‌की पूजा करता है। देहके पाँच भेद माने जाते हैं—स्थूल, सूक्ष्म, कारण, भाव और चिन्मय। चिन्मय और भाव-देह कुछ विलक्षण हैं। भगवान्‌का जो नित्यविग्रह है, वह चिन्मय है। वह देह देह नहीं, भगवत्स्वरूप ही है। वहाँ देह-देहीका भेद नहीं है तथा योगमायाका भी पर्दा नहीं है। भगवान् दो तरहसे ही प्रकट होते हैं—योगमायाको लेकर और योगमायाको हटाकर। जहाँ योगमाया साथ है, वहाँ आवरण है। बहिरङ्गा प्रकृतिका नाम 'माया' है और भगवान्‌की अन्तरङ्गा शक्तिका नाम है 'योगमाया'। मलिना माया, जिससे जगत् आच्छादित है, भगवान्‌को नहीं ठग सकती। भगवान् स्वयं योगमायाकी चादर ओढ़कर, उस आवरणको स्वयं धारण कर सामने आते हैं। जहाँ भगवान्‌का योगमायासे रहित चिन्मय स्वरूप है, वहाँ योगमाया आह्लादिनी शक्तिका रूपान्तर है। भगवान् जहाँ योगमायासे आच्छादित होकर बोलते हैं, वहाँ सबके सामने प्रकट होते हैं। जहाँ योगमायाका पर्दा हटा रहता है, वहाँकी अन्तरङ्गा लीलामें जो प्रेमीजन भगवान्‌के साथ होते हैं—वहाँ प्रेममें ज्ञान अन्तर्हित होता है। उनकी देहका नाम भाव-देह है। श्रीराधिकाजीकी भाव-देह नहीं है, वे तो चिन्मय दिव्य विग्रहरूपा हैं और सभी गोपियाँ राधाकी कायव्यूहरूपा हैं।

प्राकृत देहका निर्माण होता है स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन देहोंके संयोगसे। जबतक 'कारण-शरीर' रहता है, तबतक इस प्राकृत देहसे जीवको छुटकारा नहीं मिलता। 'कारण-शरीर' कहते हैं पूर्वकृत कर्मोंके उन संस्कारोंको, जो देह-निर्माणमें कारण होते हैं। इस 'कारण-शरीर'के आधारपर जीवको बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना होता है और यह चक्र जीवकी मुक्ति न होनेतक अथवा 'कारण'का सर्वथा अभाव न होनेतक चलता ही रहता है। इसी कर्मबन्धनके कारण पाञ्चभौतिक स्थूल-शरीर मिलता है, जो रक्त, मांस, अस्थि, मेद, मज्जा आदिसे भरा और चमड़ेसे ढका होता है। प्रकृतिके राज्यमें जितने शरीर होते हैं, सभी वस्तुतः योनि और बिन्दुके संयोगसे ही बनते हैं, फिर चाहे कोई कामजनित निकृष्ट मैथुनसे उत्पन्न हो या ऊर्ध्वरेता महापुरुषके संकल्पसे, बिन्दुके अधोगामी होनेपर कर्तव्यरूप श्रेष्ठ मैथुनसे हो अथवा बिना ही मैथुनके नाभि, हृदय, कण्ठ, कर्ण, नेत्र, सिर, मस्तक आदिके स्पर्शसे, बिना ही स्पर्शके केवल दृष्टिमात्रसे अथवा बिना देखे केवल संकल्पसे ही उत्पन्न हो। ये मैथुनी-अमैथुनी (अथवा कभी-कभी स्त्री या पुरुष-शरीरके बिना भी उत्पन्न होनेवाले) सभी शरीर हैं—योनि और बिन्दुके संयोगजनित ही। ये सभी प्राकृत शरीर हैं। इसी प्रकार योगियोंके द्वारा निर्मित 'निर्माणकाय' यद्यपि अपेक्षाकृत शुद्ध हैं तथापि वे भी हैं प्राकृत ही। पितर या देवोंके दिव्य कहलानेवाले शरीर भी प्राकृत ही हैं। अप्राकृत शरीर इन सबसे विलक्षण हैं, जो महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होते और भगवद्देह तो साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। देव-शरीर प्रायः रक्त-मांस-मेद-अस्थिवाले नहीं होते। अप्राकृत शरीर भी नहीं होते। फिर भगवान् श्रीकृष्णका भगवत्स्वरूप शरीर तो रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे? यह तो सर्वथा चिदानन्दमय है। उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीला-पुरुषोत्तमका भेद नहीं है। श्रीकृष्णका एक-एक अङ्ग पूर्ण श्रीकृष्ण है, श्रीकृष्णका मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्णका पदनख भी पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णकी सभी इन्द्रियोंसे सभी काम हो सकते हैं। उनके कान देख सकते हैं, उनकी आँखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पर्श कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है, उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है। वे हाथोंसे देख सकते हैं, आँखोंसे चल सकते हैं। श्रीकृष्णका सब कुछ श्रीकृष्ण

होनेके कारण वह सर्वथा पूर्णतम है। इसीसे उनकी रूपमाधुरी नित्यवर्धनशील, नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है। उसमें ऐसा चमत्कार है कि वह स्वयं अपनेको ही आकृष्ट कर लेती है, फिर उनके सौन्दर्य-माधुर्यसे गौ-हरिण और वृक्ष-बेल पुलकित हो जायँ इसमें तो कहना ही क्या है? भगवान्‌के ऐसे स्वरूपभूत शरीरसे गंदा मैथुन-कर्म सम्भव नहीं। मनुष्य जो कुछ खाता है, उससे क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि बनकर अन्तमें शुक्र बनता है; इसी शुक्रके आधारपर शरीर रहता है और मैथुनक्रियामें इसी शुक्रका क्षरण हुआ करता है। भगवान्‌का शरीर न तो कर्मजन्य है, न मैथुनी सृष्टिका है और न दैवी ही है। वह तो इन सबसे परे सर्वथा विशुद्ध भगवत्स्वरूप है। उसमें रक्त, मांस, अस्थि आदि नहीं हैं, अतएव उसमें शुक्र भी नहीं है। इसलिये उससे प्राकृत पाञ्चभौतिक शरीरोंवाले स्त्री-पुरुषोंके रमण या मैथुनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इसीलिये भगवान्‌को उपनिषद्‌में 'अखण्ड ब्रह्मचारी' बतलाया गया है और इसीसे भागवतमें उनके लिये 'अवरुद्धसौरत' आदि शब्द आये हैं, फिर कोई शङ्का करे कि उनके सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके इतने पुत्र कैसे हुए तो इसका सीधा उत्तर यही है कि यह सारी भागवती सृष्टि थी, जो भगवान्‌के संकल्पसे हुई थी। भगवान्‌के शरीरमें जो रक्त, मांस आदि दिखलायी पड़ते हैं, वह तो भगवान्‌की योगमायाका चमत्कार है। इस विवेचनसे भी यही सिद्ध होता है कि गोपियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णका जो रमण हुआ, वह सर्वथा दिव्य भगवत्-राज्यकी लीला है, लौकिक काम-क्रीडा नहीं।

प्राकृत देहका निर्माण स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन भेदोंसे होता है। जबतक 'कारण'—देह रहती है, तबतक प्राकृत देहसे मुक्ति नहीं मिलती। इस त्रिविध-देहसमन्वित प्राकृत देहसे छूटकर प्रकृतिसे विमुक्त होकर केवल आत्मरूपमें ही स्थित होने या भगवान्‌के चिन्मय पार्षदादि दिव्य स्वरूपकी प्राप्ति होनेका नाम ही 'मुक्ति' है। अप्राकृत पार्षदादिके अथवा भगवान्‌के मङ्गलमय लीलासंगियोंकी भाव-देह अप्राकृत हैं और वे प्राकृत शरीरसे अत्यन्त विलक्षण हैं। पर वे भी भगवद्देहसे निम्न श्रेणीकी ही हैं। भगवद्देह तो भगवत्स्वरूप तथा सर्वथा अनिर्वचनीय है।

यह भाव-देह भगवत्कृपासे प्राप्त होती है और उन्हींकी कृपासे जन्म-जन्मान्तरमें सहज ही मिल जाती है। प्रायः ऐसी देह भगवान्‌के मुक्त परिकरोंकी या कारकपुरुषोंकी होती है अथवा कभी-कभी साधनाके द्वारा भी इस देहकी प्राप्ति हो सकती है। यह भाव-देह न (कर्मजन्य) सगुण है और न निर्गुण है; यह परात्मक देह है, जो वृन्दावनके सिवा और कहीं नहीं देखी जाती।

इस भजन-प्रणालीमें सबसे पहले आवश्यक है—असत्सङ्ग (धन, स्त्री, मानका और इनके सङ्ग) का परित्याग, इन्द्रिय-सुखकी वासनाका सर्वथा त्याग, जनसंसर्गमें अरति, श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीलादिके अतिरिक्त अन्य किसी भी विषयके श्रवण-कथन-मननसे चित्तकी विरक्ति, निज-सुख—मोक्षतकके इच्छालेशका सर्वथा त्याग और अपनेको व्रजमें स्थित एक किशोर-वयस्का सुन्दरी गोपिकाके रूपमें अर्थात् मञ्जरी-देहप्राप्त गोपकुमारीके रूपमें ले जाकर—मनसे ऐसा मानकर विशुद्ध रागमयी श्रीललितादि सखियों, श्रीरूपमञ्जरी आदि मञ्जरियों एवं तदनुगा नित्यसिद्धा अन्यान्य व्रजदेवियोंमेंसे किसी एकके अनुगत होकर उनके मधुर सेवाभावका अवलम्बन करके उक्त गुरुरूपा सखीकी बायीं ओर रहकर निरन्तर सेवामें संलग्न रहना—अर्थात् मनमें ऐसा भाव, चिन्तन, धारणा या ध्यान करना कि 'मैं एक किशोरवयकी परमा सुन्दरी गोपकुमारी हूँ, मेरे हृदयमें इन्द्रियसुख, नाम-कीर्ति, लोक-परलोक या भोग-मोक्षकी—किसी भी वासनाका लेश भी नहीं है, श्रीराधा-माधवका सुख-सेवा-रसास्वादन ही मेरा स्वभाव है और मैं अपनी इन गुरुरूपा नित्यसिद्धा सखीके वामपार्श्वमें रहकर उनकी अनुगता होकर सदा-सर्वदा श्रीराधा-माधवकी यथोचित सेवामें संलग्न हूँ।'

सद्‌गुरुकी शरणमें जाकर उनके द्वारा बताये हुए साधनोंमें लगे रहकर गुरुकी सेवा करे। फिर गुरु जब जो उचित समझें, तब वही मन्त्र शिष्यको दे दें। सद्‌गुरु न प्राप्त हों तो किसी शुभ दिनमें जब चित्त भगवान्‌को पानेके लिये आतुर हो—मन-ही-मन भगवान्‌को परम गुरु मानकर उन्हींसे मानस मन्त्र ग्रहण कर ले। गोपीभावके उपासकोंको

ललितादि किसी महान् प्रेमिका गोपीको गुरु मानकर उनसे मानस-मन्त्र ग्रहण करना चाहिये। मानव-गुरुकी अपेक्षा यह अधिक श्रेष्ठ है। साधकगण श्रीव्रजधाममें अपनी अवस्थितिका चिन्तन करते हुए अपनी-अपनी गुरुस्वरूपा मञ्जरीके अनुगत होकर, एक परम सुन्दरी गोपकिशोरी-रूपिणी अपनी-अपनी सिद्ध मञ्जरी-देहकी भावना करते हुए, श्रीललितादि सखीरूपा तथा श्रीरूपमञ्जरी आदि मञ्जरीरूपा नित्यसिद्धा व्रजकिशोरियोंकी आज्ञाके अनुसार परम प्रेमपूर्वक मानसमें दिवानिशि श्रीराधा-गोविन्दकी सेवा करें।

रासोल्लास-तन्त्रमें भाव-देहका वर्णन आया है। भगवान्के नित्यधाममें नित्य-परिकरोंकी चिन्मय-देहमें लीलाके लिये एक शक्ति दी गयी है, उसका नाम है 'भाव'। भगवान्के नित्यपरिकर भाव-देहमें होते हैं। भाव-देहकी प्राप्तिसे ही उनका रासलीलामें प्रवेश होता है। इसीलिये यह परम गुह्य रहस्य है। यह रहस्य तर्कोंके द्वारा सिद्ध हो नहीं सकता। भावलीलामें योगमायाका पर्दा हटा रहता है। वहाँ लोकसंग्रह नहीं है। लोकसंग्रह वहीं है, जहाँ लोक हैं। जहाँ जगत्के प्राणी हैं, जहाँ प्रजा है, लोक है, मनुष्य हैं, वहीं लोकसंग्रहकी आवश्यकता है। जहाँ लोक है ही नहीं, वहाँ लोक-संग्रह कैसा? जहाँ लोकालय नहीं है, कर्मयोग करनेवाले जीव नहीं हैं—जहाँ केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं, वहाँ—**'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः'** (श्रीमद्भा० १०। ३३। १७)।

भावलीलामें मानवी कर्मचेष्टा नहीं होती। मानव-जगत्के आदर्शके शिखरतक मानवके कर्म हैं। भाव-लीलामें तो लोकका भाव है ही नहीं। जहाँ यह भावलीला है, वहीं भाव-देह भी है। गोपोंने देखा कि सभी गोपियाँ अपने-अपने पतियोंके पास सोयी हुई हैं। मानव-देहको मानवोंके पास छोड़कर वे भाव-देहसे, चिन्मयरूपसे, दिव्यरूपसे वहाँ आ गयीं जहाँ भगवान् थे और रासमें सम्मिलित हुईं। सूक्ष्म-देह और कारण-देहमें कर-चरणादि अङ्ग नहीं होते, पर चिन्मय-देह और भाव-देहमें ये सब होते हैं; किंतु वे सब होते हैं दिव्य अलौकिक। जैसे स्वयं भगवान् ही गोपबालक, गोवत्स और बालकोंका सारा साज-सामान बन गये, उसी प्रकार उस नित्य रासलीलामें भी स्वयं भगवान् ही 'महाभाव' और 'रसराज' दोनों रूपोंमें प्रकट होते हैं। वह रासमण्डल इस मायासे सर्वथा परे है। वहाँ न इस मायाकी देह, न इस मायाके मनुष्य और न इस मायामें रमण है। मायासे विरहित योगमायाके पर्देको भी हटाकर आत्माराम श्रीकृष्णने आत्मरूप श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ रमण किया— **'आत्मारामोऽप्यरीरमत्।'** वहाँ शरीररूपसे स्वयं भगवान् ही हैं, गोपियाँ भी वे ही हैं—सब कुछ स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं, यह कोई कल्पना नहीं है, रास सत्य है, रास नित्य है और रास चिन्मय है।

वह है क्या—यह कौन कहे? कैसे कहे? जो भावुक हैं—जिनका इस भावराज्यमें प्रवेश है, वे ही इसका आनन्द जानते हैं; पर इस आनन्दको मायिक वाणी कैसे व्यक्त कर सकेगी? जो उस पर-आनन्दमें मग्न हैं, वे फिर इसके परे क्या है, इस ओर ताकतेतक नहीं। यही तो वेदान्तशिरोमणि श्रीमधुसूदन स्वामीने कहा है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

'जिनके दोनों हाथ बाँसुरीसे शोभा पा रहे हैं, श्रीअङ्गोंकी कान्ति नूतन मेघके समान श्याम है, साँवले अङ्गपर पीताम्बर सुशोभित हो रहा है, लाल ओठ पके हुए बिम्बफलकी सुषमा छीने लेते हैं, सुन्दर मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाको भी लज्जित कर रहा है और नेत्र प्रफुल्ल कमलके समान मनोहर प्रतीत होते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके सिवा दूसरा कोई भी परम तत्त्व है—यह मैं नहीं जानता।'

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति॥

'यदि योगीलोग ध्यानके अभ्याससे वशमें किये हुए मनके द्वारा किसी निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योतिका साक्षात्कार करते हैं तो करते रहें, हम तो चाहते हैं कि यमुनाके किनारे वह जो कोई अनिर्वचनीय साँवला-सलोना तेज दौड़ता फिरता है, वही हमारे नेत्रोंमें चिरकालतक चमत्कार (विस्मयपूर्ण उल्लास) उत्पन्न करता रहे।'

यह कल्पनाका लोक नहीं है, अपितु परात्पर सत्यका दिव्य लोक है। कोई आवश्यकता नहीं कि इसे किसीको समझाया जाय। भगवान्‌को इसकी आवश्यकता नहीं कि लोग उनके इस राज्यको मानें ही, पर तो भी इस भावराज्यमें प्रवेश होता है भगवत्कृपासे ही। इस भावराज्यमें प्रवेश करनेपर भक्त प्रभुके सिवा अन्य किसीको मानता, जानता, समझता नहीं। सारा संसार विरोध करे, लाख करे पर उसे तो संसारकी कोई परवा ही नहीं। जगत्‌की समालोचनाका विषय यह है ही नहीं।

श्रीवृन्दावनका यह चिन्मय रस है, वहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है। इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि-ही-वृद्धि है—रूपमें, सौन्दर्यमें, लीलामें, प्रेममें और आनन्दमें सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा। यह श्रीराधा-माधवका अतिशय उज्ज्वल धाम है। वहाँ प्रिया-प्रियतमकी अचिन्त्य अमल मधुरतम लीला नित्य चलती रहती है। वहाँ नटनागर श्यामसुन्दरके लीला-विहारका महान् मधुर अगाध सागर अत्यन्त प्रशान्त होनेपर भी नित्य उछलता रहता है और वे उसमें विविध मनोहारिणी अलौकिक भाव-तरङ्गोंके रूपमें क्रीडा करते रहते हैं। यह कल्पना नहीं, सत्य है। इस परम उज्ज्वल सर्वश्रेष्ठ भाव-राज्यकी सीमामें उसीका प्रवेश हो सकता है, जो घृणित भोगोंसे तथा कैवल्य-मोक्षसे भी सदा विरक्त होकर केवल श्रीराधा-माधवके चरणोंमें ही अत्यन्त आसक्त हो गया है।

इस प्रेम-मार्गके पथिकको अहंके सुखकी—मोक्षतककी इच्छाका तथा अहंकी स्मृतिका भी त्याग करनेकी तैयारी करके ही इस मार्गपर पैर रखना चाहिये। जो अपने सर्वस्वको स्वाहा करके उसके भस्मावशेषपर आनन्दमत्त होकर नाच सकता है, वही सर्वत्यागी इस पावन प्रेम-पथका पवित्र पथिक बन सकता है।

भाव-राज्यके सभी विलक्षण होते हैं शुभभोग-विराग।
नहीं समझमें आ सकते वे जागे बिना शुद्ध अनुराग॥
अपनेमें अपनेसे अपने ही होते सब भाव-विशेष।
भौतिक स-मल विकारोंका—भावोंका रहता कहीं न लेश॥
सभी दिव्य, चिन्मय, भगवन्मय, सभी विकार-रहित पर-भाव।
प्रेमी-प्रियतम बने स्वयं प्रभु लीलारत रहते अति चाव॥

शुभाशा

(स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

कबहुँ कि हौं तुम्हरो ह्वै रहिहों।
प्राननाथ! इन प्राननमें ही तुमकों संतत सदा बसइहों॥
कहिहों दूजो वचन न मुखसों, केवल तव गुनगन ही गइहों।
मधुर-मधुर तव नव छवि लखि-लखि इन नयननकी प्यास सिरइहों॥
स्त्रवननसों सुनि-सुनि मुरली-धुनि ताहीमें रमि-रमि सचु पइहों।
चरननमें ही रहि-रहि लालन! दुस्सह विरह-व्याधि विनसइहों॥
रसनासों रसि नाम-सुधा तव औरनकों हूँ वही रसइहों।
सुनि-सुनि तव कल केलि-कथा पिय! हियकी भव-बाधा विसरइहों॥
कन-कनमें तव मधु-मूरति लखि छिन-छिन मन-मनमें उमहइहों।
ऐसो का हुइहै मनमोहन! सब तजि तुम्हरो ही ह्वै रहिहों॥
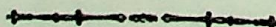
महर्षि पुलस्त्यकी सार्वजनीन शिक्षा

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

[गताङ्क पृ० ५२० से आगे]

राजाने देखा कि राक्षस तैजसरूप धारण कर ब्राह्मणीके शरीरमें प्रवेश कर गया और उसकी दुश्चरित्रताको खा गया। दुःस्वभावके मिटते ही वह ब्राह्मणी अपने पतिके लिये रोने लगी और बोली—'हाय! मैं इतने दिनोंसे अपने पतिसे विमुक्त हूँ। कोई मुझे वहाँ पहुँचा दे।' राजाने यह भी देखा कि राक्षस अदृश्यरूपमें ब्राह्मणीको उसके घर पहुँचाकर वापस आ गया। राजाने निशाचरको धन्यवाद देते हुए कहा—'भाई! तुमने मेरी बड़ी सहायता की है और अब वचन दो कि मेरे याद करनेपर तुम मेरे पास आ जाओगे।' निशाचरने नम्रतासे कहा—'राजन्! मैं आपके राज्यका वासी हूँ, अतः मैं आपके प्रत्येक आदेशका पालन करूँगा।' राजा कृतकार्य होकर महामुनिके पास पहुँचे। उन्होंने उनसे सारी घटना निवेदन कर दी। ऋषिने कहा—'राजन्! आपके कार्यको और मेरे पास आनेके उद्देश्यको मैंने पहले ही जान लिया था। ब्राह्मण आपकी प्रजा था, अतः उसका हित-सम्पादन कर आप धर्मके भागी हुए। अब आपका कर्तव्य क्या है? यह मैं बता रहा हूँ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र किसीको भी अपनी धर्मभार्याका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्मभार्याके त्याग करनेपर सब धर्म-कार्य विफल हो जाते हैं। जिस तरह पत्नीको अपने पतिका त्याग करना अनुचित है, उसी तरह पतिको अपनी भार्याका त्याग करना अनुचित है।' राजाने कहा—'मैं सदा अपनी पत्नीके अनुकूल रहता था। उसके प्रति मेरा हार्दिक प्रेम था, किंतु वह मेरे प्रतिकूल रहा करती थी, अतः लाचार होकर मैंने उसका त्याग कर दिया था, फिर उसके वियोगमें मैं घुलता रहता था। मैं पतिके कर्तव्यसे अनभिज्ञ था। इसलिये मुझसे ऐसी भूल हुई। अब मेरी वह पत्नी कैसे मिले? और उसके साथ मैं क्या व्यवहार करूँ? आप बतलायें।'

महामुनिने कहा—'राजन्! घबराओ मत। तुम्हारी पत्नी न तो मरी है और न भ्रष्ट ही हुई है। उसे कपोतक नामक नागराज रसातलमें ले गये हैं। वहाँ ले जानेका उद्देश्य तो भार्या बनानेका ही है, किंतु उनकी बुद्धिमती कन्या नन्दाने तुम्हारी धर्मभार्याको अपने कमरेमें छिपा लिया है। वह समझ गयी थी कि मेरे पिता इस सुन्दरीको अवश्य ही मेरी माताकी सौत बनायेंगे, जिससे मेरी माँको बहुत कष्ट होगा। उसके पिता उससे पूछते कि बताओ, उसे कहाँ छिपा रखा है, किंतु वह चुप्पी साध लेती। प्रतिदिनकी चकचकसे उसके पिता नागराजको क्रोध हो आया और उसने अपनी पुत्रीको शाप दे दिया कि जा तू गूँगी हो जायगी। मातृभक्ता नन्दा गूँगी बनकर भी संतुष्ट थी; क्योंकि उसने अपनी माँका दुःख दूर किया था और दूसरेकी भार्याके सतीत्वकी रक्षा की थी। महामुनिने आगे कहा कि इस तरह आपकी धर्मभार्या आज भी नन्दाके द्वारा सुरक्षित है।' राजाको अपनी पत्नीको सुरक्षित जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने महामुनिसे पूछा—'महाराज! कृपया मेरी एक जिज्ञासा है कि मेरे प्रति सभी लोग प्रेम करते हैं, किंतु मेरी पत्नी मुझसे प्रेम क्यों नहीं करती? इसका क्या कारण है? मैं उसपर प्राणोंको न्योछावर करता हूँ, किंतु प्रत्येक क्षण वह मुझसे बुरा व्यवहार करती है। ऐसा क्यों?' ऋषिने उसके ग्रहदोषको बतलाते हुए आदेश दिया कि आप अपनी भार्याको घर बुला लें।

राजा सम्मानके साथ महामुनिको प्रणाम कर अपने घर लौट आये। वहाँ उन्होंने ब्राह्मणको अपनी पत्नीके साथ देखा। पत्नीका स्वभाव बिलकुल बदल चुका था। वह अत्यन्त सुशीलता और विनम्रताके साथ राजासे मिली। ब्राह्मणने राजाको बहुत आशीर्वाद दिया। राजाने कहा—'द्विजश्रेष्ठ! आप तो अपनी धर्मभार्याको पाकर कृतार्थ हो गये हैं, किंतु मैं भार्यासे रहित होकर संकटमें पड़ा हूँ।' ब्राह्मणने कहा—'आपने अपनी धर्मभार्याका

परित्याग कर बड़ा अनुचित कार्य किया है। यदि वह व्यभिचारसे दुष्ट न हुई हो तो उसे भार्याके रूपमें आप स्वीकार कर लें, नहीं तो दूसरा विवाह कर लें।' राजाने कहा—'जिस महामुनिकी ऋतम्भरा प्रज्ञासे आप अनुगृहीत हुए हैं, उन्हीं ऋषिने हमें बताया है कि हमारी पत्नी अभी कलुषित नहीं हुई है। मैंने उसका परित्याग उसकी दुष्टतावश किया था। मैं नहीं जानता था कि मैं यह अधर्म कर रहा हूँ। मेरा तो अपनी पत्नीमें इतना अनुराग है कि अभी भी मैं उसकी यादमें घुलता रहता हूँ। इसलिये दूसरा विवाह तो नहीं करूँगा और ऐसा करना अनुचित भी है, किंतु मेरी पत्नीका हृदय पत्थरका है, वह प्रेम करना नहीं जानती। आप वेदके विद्वान् हैं, ऐसा कोई यत्न कीजिये कि मेरी पत्नी मुझसे प्रेम करने लगे।' ब्राह्मणने कहा—'मैं आपके लिये 'मित्रविन्दा' नामक यज्ञ करूँगा। इससे दम्पतिमें पारस्परिक स्नेहका उदय होगा। इस यज्ञसे आपकी धर्मभार्या आपमें अत्यन्त अनुरक्त हो जायगी। आपकी पत्नीमें वही परिवर्तन हो जायगा, जो मेरी पत्नीमें हुआ है।'

ब्राह्मणकी बात सुनकर राजाने यज्ञकी सारी सामग्री जुटायी और शुभ मुहूर्तमें द्विजश्रेष्ठसे यज्ञ कराया। ब्राह्मणने रानीमें सुशीलता लानेके लिये सात बार यज्ञ कराये। जब ब्राह्मणको विश्वास हो गया कि रानीमें कूट-कूटकर सुशीलता और पतिकी अनुगामिता भर गयी है, तब उसने राजासे कहा—'अब आप अपनी पत्नीको बुलानेका यत्न कीजिये।' तब राजाने निशाचरको याद किया। याद करते ही वह राजाकी सेवामें उपस्थित हो गया। निशाचरने राजाको प्रणाम कर विनयके साथ कहा—'राजन्! आदेश दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? राजाने रसातलका पता बताया और अपनी पत्नीको लानेके लिये कहा। निशाचर अलौकिक प्राणी था। थोड़ी ही देरमें उसने रानीको लाकर राजाके सामने उपस्थित कर दिया। रानीका स्वभाव बदल चुका था। उसने अपने पतिको अत्यन्त प्यारभरी दृष्टिसे देखा और कहा—'नाथ! आप मुझपर प्रसन्न हो जाइये। मैं आपकी दासी हूँ।' राजा तो उसके लिये उत्कण्ठित थे ही। उन्होंने कहा—'मैं तो तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम ऐसा क्यों कहती हो?' रानीने कहा—'नाथ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरी एक इच्छाकी पूर्ति कीजिये।' राजाने कहा—'प्रिये! तुम क्या चाहती हो? कहो मैं अवश्य पूरा करूँगा। मैं तो सदा तुम्हारे अधीन रहा हूँ। अभी भी हूँ।' रानीने कहा—'नाथ! जिसने मेरे सतीत्वकी रक्षा की है, वह मेरे ही कारण शापवश गूँगी हो गयी है। यदि आप उसका गूँगापन हटवा सकें तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी; क्योंकि रात-दिन मुझे चिन्ता बनी रहती है कि मेरी प्रिय सखी मेरे कारण गूँगी बन गयी है।'

राजाने ब्राह्मणसे नन्दाके गूँगापनको दूर करनेका कोई उपाय पूछा। ब्राह्मणने कहा—'महाराज! वेदमें इसका उपाय है। यदि सारस्वती इष्टि की जायगी तो नन्दाकी मूकता निश्चित दूर हो जायगी और रानी भी ऋणमुक्त हो जायगी।' राजा आश्वस्त हो गया। उसने सारस्वती इष्टि करायी। वह इष्टि सफल हुई। इष्टिके समाप्त होते ही रसातलमें नन्दा बोलने लगी। उसे विस्मय हुआ और उसने गर्ग ऋषिसे अपनी मूकताके दूर होनेका कारण पूछा। महर्षि गर्गने कहा कि रानीने यज्ञ कराकर तुम्हारी मूकता हटायी है। नागकन्या नन्दा यह सुनकर अपनी सखीके आभारसे दब गयी। वह रसातलसे रानीके पास पहुँची और उसने रानीका गाढ़ आलिङ्गन कर अपना आभार प्रकट किया। फिर नन्दाने राजासे मीठी वाणीमें कहा—'राजन्! मैं आपको आशीर्वाद देती हूँ कि आपको महावीर्यवान् पुत्र उत्पन्न होगा, जो समूची पृथ्वीका अधिकारी होगा। वह सभी शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाला, धर्मानुष्ठानमें तत्पर और मन्वन्तराधिपति मनु भी होगा।' राजाका वह पुत्र औत्तम मनु कहलाया।—(क्रमशः)

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[मानव-जीवनका उद्देश्य]

श्रोता—अपना लक्ष्य परमात्माकी प्राप्ति करना ही है—यह कैसे पता लगे ? क्योंकि धन भी प्रापणीय है, मान-बड़ाई भी प्रापणीय है, सुख-सुविधा भी प्रापणीय है, इस तरह कई चीजें प्राप्त करनेकी हैं। अतः परमात्माकी प्राप्ति ही हमारा उद्देश्य है—यह हमें कैसे मालूम हो ?

स्वामीजी—आपमेंसे कोई भी क्या ऐसा सुख चाहता है जो पूरा न हो, अधूरा हो और मिटनेवाला हो ? क्या ऐसा जीवन कोई चाहता है जो सदा न रहे, हम कभी रहें और कभी न रहें, मर जायँ ? क्या ऐसी जानकारी कोई चाहता है जो अधूरी हो ? हम ऐसा सुख चाहते हैं जो कभी मिटे नहीं। ऐसा जीवन चाहते हैं जो सदा रहे । ऐसा ज्ञान चाहते हैं जो सर्वोपरि हो, जिसमें किंचिन्मात्र भी कमी न रहे। यह चाहना (अभिलाषा) वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी ही है । परमात्मतत्त्वके सिवाय और कोई नित्य रहनेवाला, परिपूर्ण, सर्वोपरि तत्त्व नहीं है। उस परमात्मतत्त्वकी अभिलाषाको हम सांसारिक तुच्छ इच्छाओंसे दबाते रहते हैं और कभी सुखी तथा कभी दुःखी होते रहते हैं।

थोड़े सुखसे तो कुत्ता भी राजी हो जाता है, गधा भी राजी हो जाता है। सुख तो वह लेना चाहिये, जिसमें किसी तरहकी अपूर्णता न हो, जो पूर्ण हो। जिसमें कोई कमी न रहे, ऐसा सुख संसार नहीं दे सकता। अतः संसारका सुख हमारा ध्येय नहीं है, हमारा लक्ष्य नहीं है। आप विचार करें कि जो सदा रहे, अखण्ड रहे, जिसमें किंचित् भी कमी न आये, ऐसा सुख तो एक परमात्मामें ही है। संसारकी कितनी ही वस्तुएँ मिल जायँ, कितना ही धन, सम्पत्ति, राज्य, वैभव, मान, आदर, सत्कार आदि मिल जायँ, पर उससे तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत 'और मिले, और मिले' ऐसी इच्छा बनी रहती है।

हम जीना चाहते हैं—इसका अर्थ यह हुआ कि हम मर रहे हैं, नहीं तो जीनेकी इच्छा क्यों होती है ? फिर भी जीनेकी इच्छा रहती है। संसारमें बहुत कुछ जाननेपर भी जाननेकी इच्छा रहती है। बहुत कुछ पानेपर भी पानेकी इच्छा रहती है । बहुत कुछ करनेपर भी करनेकी इच्छा रहती है कि इतना तो कर लिया, इतना और करना है । यह जो जानने, पाने, करने आदिमें अधूरापन रहता है, कमी रहती है, यह कमी आदमीको खटकनी चाहिये। इस कमीकी पूर्ति संसार नहीं कर सकता। मात्र संसार मिल जाय तो भी यह कमी कभी पूरी नहीं हो सकती; क्योंकि संसार कभी टिकता नहीं, प्रतिक्षण बदलता रहता है, परंतु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर क्या होगा, इसके लिये गीताने बताया है—**'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'** (६।२२)। अर्थात् जिस लाभकी प्राप्ति होनेके बाद उससे बढ़कर कोई लाभ होता है—यह उसके माननेमें ही नहीं आता, वह मान ही नहीं सकता, कोई उसे मना भी नहीं सकता और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता—**'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।'** जैसे दो पर्वत आपसमें टकरायें तो उनके बीचमें शरीरको रख दिया जाय, शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ तो ऐसे दुःखमें भी वह अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता। यह दुःख वहाँ पहुँचता ही नहीं। इस दुःखका संस्पर्श ही नहीं होता । सुख तो इतना होता है कि उससे बढ़कर कोई सुख है ही नहीं और दुःख वहाँ पहुँचता ही नहीं । ऐसा सुख कौन नहीं चाहता, बताओ ? परंतु अल्पमें संतोष कर लेते हैं, यह बड़ी गलती होती है ।

साधकोंसे यह बड़ी भूल होती है कि वे साधन करते-करते बीचमें संतोष कर लेते हैं। एक मारवाड़ी कहावत है—'आँधे कुत्ते खोलन ही खीर है' अर्थात् अन्धे कुत्तेको खोलन (अन्न आदि लगे हुए बरतनोंको धोया हुआ पानी) मिल जाय तो उसके लिये वही खीर है । ऐसे ही संसारमें थोड़ा धन मिल जाय, मान मिल जाय तो उसीमें राजी हो जाते हैं। वास्तवमें मिल क्या गया ? जो मिला है, वह सब धोखा है। हमें तो सर्वोपरि तत्त्व चाहिये। हमें धन

भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, पद भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, मान भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, बड़ाई भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, जीवन भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, ज्ञान भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये—इस इच्छाको कोई मिटा नहीं सकता और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके बिना इस इच्छाको कोई पूरी नहीं कर सकता; क्योंकि सर्वोपरि तत्त्व एक परमात्मा ही है। अर्जुन कहते हैं—**'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।'** (गीता ११।४३)। आप अप्रतिमप्रभाव हैं अर्थात् आपके प्रभावकी सीमा नहीं है। आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो हो ही कैसे सकता है। ऐसे सर्वोपरि तत्त्वको प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

पहले जितने बड़े-बड़े ऋषि हुए, संत-महात्मा हुए, सनकादिक एवं नारद आदि हुए, ब्रह्मा, शंकर आदि हुए, उन्हें जो तत्त्व मिला, वही तत्त्व आज कलियुगी जीवको भी मिल सकता है। संसारकी वस्तुएँ सबको नहीं मिल सकतीं; पर परमात्मतत्त्व सबको मिल सकता है। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है, जिसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति न हो सकती हो । उस परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति ही मनुष्यजन्मका लक्ष्य है।

मेरा लक्ष्य परमात्मप्राप्ति है—इस बातको मनुष्य ही समझ सकता है, दूसरा कोई प्राणी नहीं। प्राणियोंमें गाय बड़ी पवित्र है, पर उसे समझा नहीं सकते। आप थोड़ा-सा विचार करें। आप इतनी जल्दी यहाँ सत्सङ्गमें आ जाते हैं तो यहाँ धन मिलता है क्या? भोग मिलता है क्या? आदर मिलता है क्या? यहाँ नीरोगता मिलती है क्या? आपको कौन-सा लाभ मिलता है, बताइये? क्यों आते हैं इतनी जल्दी उठकर?

श्रोता—आत्माको शान्ति मिलती है।

स्वामीजी—शान्ति पूरी चाहिये। यहाँ थोड़ी शान्ति मिली और जब यहाँसे चले गये तो फिर वैसी शान्ति नहीं रही—यह शान्ति किस कामकी? हमें ऊँची-से-ऊँची शान्ति चाहिये, जो कभी मिटे नहीं; परंतु भूल यह होती है कि हम तुच्छ शान्तिसे राजी हो जाते हैं।

एक आदमी ऊँटपर चढ़कर अपने गाँव आ रहा था। रात्रिके समय वह एक गाँवमें पहुँचा। वहाँ एक जगह ब्याह हो रहा था, ढोल-बाजे बज रहे थे। वह आदमी ब्राह्मण था। उसने वहाँ जाकर देखा तो पता लगा कि 'भूर' बँटनेवाली है। 'भूर'को संस्कृतभाषामें भूयसी (विशेष) दक्षिणा कहते हैं, जो ब्याहके समय ब्राह्मणोंको दी जाती है। वह ब्राह्मण ऊँटको बाहर खड़ा करके 'भूर' लेनेके लिये भीतर चला गया। चोरोंने ऊँटको बाहर खड़ा देखा तो वे उसे भगा ले गये। इधर 'भूर' बँटी तो सब ब्राह्मणोंको चार-चार आने मिले। चार आने लेकर वह ब्राह्मण बाहर आया तो देखा कि ऊँट नहीं है। इधर चार आने मिले और उधर चार-पाँच सौ रुपयोंका ऊँट गया। इस तरह संसारमें तो तुच्छ सुख मिला, थोड़ा धन मिल गया, थोड़ा मान मिल गया, थोड़ा आदर मिल गया, थोड़ा भोजन बढ़िया मिल गया, पर उधर ऊँट चला गया—परमात्माकी प्राप्ति चली गयी। यह दशा है। तुच्छ सुखमें महान् सुख जा रहा है। थोड़े-से आदर-सत्कारमें राजी हो जाते हैं। एक संतसे किसीने कहा कि हम आपका आदर करते हैं, तो वे बोले—'धूल आदर करते हो तुम! हमारा आदर भगवान् करते हैं, तुम क्या कर सकते हो? सब मिलकर भी क्या आदर कर लोगे? क्या ताकत है तुम्हारेमें जो आदर करोगे?' वास्तवमें संतोंका सम्मान भगवान् करते हैं। दूसरा बेचारा क्या जाने कि सम्मान क्या होता है?

आप जो सर्वोपरि लाभ चाहते हैं, यही वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी इच्छा है। इस इच्छाको चाहे जो कह दो, ज्ञानकी इच्छा कह दो, प्रेमकी इच्छा कह दो, सुखकी इच्छा कह दो, भगवद्दर्शनकी इच्छा कह दो, भगवत्प्राप्तिकी इच्छा कह दो, एक ही बात है। यही हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्यपर डटे रहें। अधूरेमें राजी न हो। अधूरेमें नहीं अटकोगे तो पूरा मिल जायगा। अधूरेको ले लोगे तो फिर वहीं अटक जाओगे।

यह मनुष्य-शरीर उत्तम-से-उत्तम है, अतः इसका लक्ष्य भी उत्तम-से-उत्तम होना चाहिये, जिससे बढ़कर और कोई लक्ष्य न हो। इससे सिद्ध होता है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मानव-जीवन मिला है।

श्रोता—संसारका सुख छोड़नेसे सर्वोपरि तत्त्व मिल ही जायगा, इसका क्या पता? इधरका तो छोड़ दें और उधरका मिले ही नहीं, तो फिर रीते रह जायँगे न?

स्वामीजी—अर्जुनने भी यही प्रश्न किया था कि 'अगर साधकको योगकी प्राप्ति न हो और वह बीचमें ही मर जाय तो उस बेचारेकी क्या गति होती है? क्या वह उभयभ्रष्ट हो जाता है?' (गीता ६। ३७-३८)। संसारको तो छोड़ दिया और परमात्मा मिले नहीं, तो क्या बीचमें ही लटकता रहेगा? भगवान् बोले—'नहीं पार्थ! उसका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही पतन होता है; क्योंकि हे प्यारे! जो थोड़ा भी कल्याणकारी काम करता है, उसकी दुर्गति नहीं होती' (गीता ६। ४०)। आपको पारमार्थिक मार्गपर ठीक चलनेवाला कोई साधक मिल जाय तो आपको खुदको मालूम होगा। उसकी मस्ती, उसका आनन्द आपको विलक्षण दीखेगा। साधना करनेवाले भी आगे बढ़ जाते हैं तो उन्हें एक विलक्षण आनन्द मिलता है, जिससे वे अपनी साधनाको छोड़ नहीं सकते। वह जो सर्वोपरि आनन्द है, वह हम सबको मिल सकता है, इसमें संदेह नहीं है। संदेह क्यों नहीं है? कि हम साधन करते हैं तो हमें विलक्षणता मिलती है। आप भी साधन करें तो आपको भी मिलेगी। सत्सङ्ग करनेसे बहुत लाभ होता है। हमने तो सत्सङ्गके समान कोई उपाय नहीं देखा है। साधन बहुत हैं और लोग साधन करते भी हैं, पर सत्सङ्गके द्वारा जो लाभ होता है, वह वर्षोंतक साधन करनेसे भी नहीं होता।
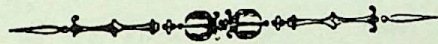
पुरुषार्थकी प्रधानता

[महाभारतके वनपर्वपर आधारित पौराणिक आख्यान]

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज)

द्यूतक्रीडा-जैसे अशोभनीय कर्मके फलस्वरूप बारह वर्षके वनवासका कुफल भोगते हुए पाण्डव द्वैतवनमें सरस्वती नदीके तटपर निवास कर रहे थे। एक दिन पाण्डवप्रिया शुचिदर्शिनी विदुषी द्रौपदीने धर्मराजसे कहा—'राजेन्द्र! जिस दशामें क्रूर आततायी कौरवोंने हमें इस घोर संकटमें पड़े रहनेको विवश कर दिया है, क्या आपको उनपर तनिक भी क्रोध नहीं है? आपका क्षात्र-धर्म कहाँ लुप्त हो गया? मुझे इस प्रकार वनमें कष्ट उठाती देखकर भी आप शत्रुओंके प्रति क्षमाभाव क्यों अपना रहे हैं?'

द्रौपदीके इस प्रश्नका उत्तर देते हुए युधिष्ठिरने प्रह्लाद तथा विरोचनपुत्र बलिके संवादका प्रश्रय लेकर प्राचीन इतिहासद्वारा यह सिद्ध करनेका प्रयास किया कि 'देवि! उत्तेजनाके वशीभूत मनुष्य मित्रोंसे विरोध पैदाकर साधारण-जनों एवं स्वजनोंका द्वेष-पात्र बन जाता है। मनुष्य कोमलभाव (सामनीति), द्वारा उग्र स्वभावके शत्रुओंका भी नाश कर देता है। मृदुताके लिये कुछ भी असाध्य नहीं है। क्षमा सर्वोपरि तप है।'

द्रौपदीने कहा—'कुन्तीनन्दन! मैं क्षमा और शान्त भावकी निन्दा नहीं करती हूँ, परंतु यह सिद्धान्त है कि जो कर्म छोड़कर निश्चेष्ट बैठा रहता है, वह पुरुष पराभवको प्राप्त होता है।'—

अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम्। निःसंशयं फलं लब्ध्वा दक्षो भूतिमुपाश्नुते ॥

(महा॰ वन॰ ३२। ४२)

'जो मनुष्य आलस्यके वशीभूत होकर सुप्त पड़ा रहता है, उसे दरिद्रता प्राप्त होती है और कार्यकुशल मानव निश्चय ही अभीष्ट फल पाकर ऐश्वर्यका उपभोग करता है।' धर्मराज कहे जानेवाले पुरुषसिंहको नारीका यह उद्‌बोधन अत्यन्त प्रेरणादायक है।

शिक्षाका मूल उद्देश्य एवं इसका महत्त्व

(भोगवर्धनपीठाधीश्वर ब्रह्मनिष्ठ स्वामी श्रीकृष्णानन्दसरस्वतीजी महाराज)

[गताङ्क पृ० ४८४ से आगे]

सोना खान्नसे जैसा निकलता है, वैसा उपभोगके योग्य नहीं होता। पहले उसे स्वच्छ करना पड़ता है, फिर उसमें अतिशयता—आभूषणपना लाना पड़ता है, फिर उसकी हीनाङ्गपूर्ति करनी पड़ती है। उसमें नग जड़े जाते हैं, मीना होता है, डामिस छिलती है, तब कहीं वह पहनने योग्य होता है। इसी तरह रूईको लीजिये। रूई खेतमें जैसी होती है, वैसी ही काममें नहीं आती। पहले उसे दोषमार्जनके लिये ले जाना पड़ता है। बिनौला बीनकर फिर उस रूईमें अतिशयाधान होता है। पुनः तन्तु बनाकर उसे आड़ा-लंबा-तिरछा बुनकर कपड़ा बनाना पड़ता है, फिर उसकी हीनाङ्गपूर्ति की जाती है। अतः सहज ही बुद्धिमें आता है कि मनुष्यको भी यदि राष्ट्र-समाज-वंश-पड़ोसके उपभोगके योग्य सही मानव बनाना है तो अवश्य ही मनुष्यके संस्कारकी नितान्त अत्यधिक आवश्यकता है तथा उसका महत्त्व जड वस्तुओंके संस्कारकी अपेक्षा अधिकाधिक है। वह संस्कार है शिक्षा। शिक्षित मनुष्य ही सुसंस्कृत, परिमार्जित होकर सभी क्षेत्रोंमें सभीके लिये पोषक बनता है शोषक नहीं, पालक-साधक ही होता है, घातक-बाधक नहीं।

विशेषमें सामान्य कारण होता है। जिस प्रकार मिट्टी-सामान्यमें मिट्टी-विशेष—घट, पुरवा, परई, दीया आदि, जल-सामान्यमें जल-विशेष—बुलबुले, फेन, तरंग, बर्फ, हिम आदि, स्वर्ण-सामान्यमें स्वर्ण-विशेष—कुण्डल, कंकण, करधनी, हार, मुकुट आदि, पट-सामान्यमें पट-विशेष—कोट, कमीज, कुर्ता, बनियान आदि, ज्ञान-सामान्यमें ज्ञान-विशेष—घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान, चर-ज्ञान, लौकिक ज्ञान, पारलौकिक ज्ञान आदि, भक्ति-सामान्यमें भक्ति-विशेष—मातृभक्ति, पितृभक्ति, भगवद्भक्ति, राष्ट्र-भक्ति आदि होते हैं, ठीक इसी प्रकार शिक्षा-सामान्यमें भी शिक्षा-विशेष—धर्मशिक्षा, समाजशिक्षा, व्यवहारशिक्षा, परमार्थशिक्षा, कलाशिक्षा, पातिव्रतशिक्षा, गृहशिक्षा, नारीशिक्षा, युद्ध-शिक्षा, शिल्पशिक्षा आदि अनेकानेक शिक्षाओंका समावेश होता है, जिनका सविस्तर वर्णन शास्त्रोंमें देखा और जाना जा सकता है। रामायण, भागवत, गीता, महाभारत, उपनिषदादि सद्ग्रन्थोंसे सभीको अपने-अपने व्यावहारिक, लौकिक क्षेत्रकी, पारलौकिक क्षेत्रकी, यथायोग्य शिक्षा प्राप्त होकर अन्तमें परमलक्ष्य—परमार्थ-पदकी भी प्राप्ति होती है, हुई है।

श्रीप्रभुने गीतामें अर्जुनको प्रतिनिधि बनाकर जीवमात्र-कल्याणकारी अनेकानेक सर्वतोमुखी शिक्षाएँ यत्र-तत्र देते हुए एक श्लोकमें सभीके लिये सभीके कामकी, सभीके कल्याणकी शिक्षा दी है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

—इस शिक्षाको जीवनमें उतारकर कौन-सा ऐसा प्राणी है, जो अशेष-निःशेष दुःखोंसे—त्रिविध तापोंसे सदा-सर्वदाके लिये छुटकारा न पा सके? और नरसे नारायण, जीवसे शिव न बन सके?

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

—इस शिक्षासे कहीं किसी भी प्रकारका अन्तर-बाहर संघर्ष रह सकता है? विश्वकी कौन-सी ऐसी समस्या है जो इस शिक्षासे नहीं सुलझ सकती?

सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति तज्जलानिति शान्त उपासीत।

—इस शिक्षा-रत्नको जाननेपर विक्षेपके लिये कहीं भी स्थान नहीं रह जाता।

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

यदि उपर्युक्त शिक्षाको शिक्षक स्वयं जीवनमें उतारकर शिक्षार्थियोंको इससे शिक्षित करके व्यवहार-जगत्में भेजें, राष्ट्रकी सेवामें समर्पित करें तो छीना-झपटी, लूट-खसोट,

खींचा-तानी, मार-पीटका अवसर ही न आये ।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

(कठ० १ । २ । २४)

—इस शिक्षाको पाकर, पीकर, पचाकर कौन प्राणी है जो स्वयं कृतकृत्य न हो जाय ? परमपदको प्राप्त न कर ले ? तथा दूसरोंके लिये आदर्श, मार्गदर्शक, लोकसंग्रही न बन जाय ?

यथा सुनिपुणो दिव्यः परदोषेक्षणे रतः ।
तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनात् ॥
पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—इस शिक्षासे कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो दोषरहित होकर उन अनन्त कल्याणगुणनिलय प्रभुका प्रिय न हो जाय ?

द्वारं द्वारमटन् भिक्षुः शिक्षत्येष न याचते ।
अदत्त्वा मादृशो मा भूर्दत्त्वा त्वं त्वादृशो भव ॥

द्वार-द्वारपर भीख माँगता हुआ भिखारी भीख नहीं माँगता, अपितु जीवनोपयोगी लाभकारी शिक्षारूपी रत्नको देता है। वह कहता है कि 'न देकर तुम मेरी स्थितिमें न आ जाना, देकर तुम अपनी स्थितिमें ही रहना।' इस शिक्षासे किस भिखारीके प्रति भिखारीकी भावना होकर घृणा होगी ? और कौन दातापनका अभिमान करके गर्वोन्नत होगा ?

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥

—इस शिक्षाको जीवनमें उतारकर कौन गृहस्थ है जो विरक्तकी उत्कृष्ट गतिको प्राप्त नहीं कर सकता ?

अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम् ।
असंत्यज्य सतां वर्त्म यत् स्वल्पं तद् वै बहु ॥
न वृद्धिर्बहुमन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहुमन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥

बुद्धिमान् दूरदर्शी परिणामदर्शी विवेकी क्षुधापीड़ित होकर भी तात्कालिक क्षुधानिवृत्तिकारक होते हुए भी विषमिश्रित खीरको खाकर मरना नहीं चाहता, अपितु और कुछ देकर भूखा रहकर संजीवक रूखा-सूखा अन्न खाकर जीना ही चाहता है; क्योंकि वह परिणामदर्शी है । इन शिक्षाओंको हृदयङ्गम करनेसे वैध अल्प आयमें भी अल्प एवं असंतोषकी बुद्धि नहीं बनती, अपितु तृप्ति, शान्ति, संतोषकी अनुभूति ही होती है ।

अपकारिणि कोपश्चेत् कोपे कोपः कथं न ते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥

—यह शिक्षा प्रत्येक वस्तुका सद्विनियोग करना कितने अच्छे ढंगसे सिखाती है । इसमें क्रोध-जैसी निन्द्य एवं अस्पृश्य वस्तुका भी कितना अच्छा सद्विनियोग है । अरे सुज्ञ प्राणी ! अन्य अपकारादि करनेवालोंके बदले क्रोधपर ही क्रोध क्यों नहीं कर डालता ? क्योंकि यह क्रोध तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—सभीका विघातक है ।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥
'यः पश्यति स पश्यति'

—यह शिक्षा यदि सभी शिक्षाओंमें **'सूत्रे मणिगणा इव'** ओतप्रोत कर दी जाय तो सभी शिक्षाएँ चाहे वे व्यावहारिक हों या पारमार्थिक सार्थक हो जायँ ।

यः काकिणीमप्यपथप्रपन्नां
समुद्धरेन्निष्कसहस्त्रतुल्याम् ।
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त-
स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः ॥

रुपया तो बहुत बड़ी बात है । जो एक कौड़ीको भी गलत रास्तेमें जानेसे बचाकर उसका दुरुपयोग नहीं होने देता, किंतु यथासमय देश-काल-पात्रमें, पारमार्थिक संस्थाओंमें, सत्कार्योंमें, आवश्यक सेवाकार्योंमें, परोपकारमें करोड़ों रुपया मुक्तहस्तसे दे देता है—उस राजसिंहका लक्ष्मी त्याग नहीं करती ।

पात्रापात्रविवेकोऽस्ति धेनुपन्नगयोर्यथा ।
तृणात् संजायते क्षीरः क्षीरात् संजायते विषः ॥

गौकी सत्पात्रता यह है कि उसके मुँहमें घास आदि जो हमारे कामकी नहीं है, डाल देनेसे वह अमृत बनकर

मिलता है तथा सर्पकी अपात्रता यह है कि उसके मुँहमें अमृत-सा दूध भी डाल दिया जाय तो वह विष बनकर सामने आता है ।

ये शास्त्रीय शिक्षाएँ यदि दिल-दिमागमें बैठ जायँ, पाठ्यक्रममें रखी जायँ तो कौन कब कहाँ धनका दुरुपयोग कर सकता है ? विवेकियोंका कथन इतना तथ्यपूर्ण है कि धन कमानेकी अपेक्षा उसका यथायोग्य उपयोग करना और भी कठिन है ।

कार्यालयोंमें तथा यत्र-तत्र-सर्वत्र मार्गोंपर, स्टेशनोंपर, अनुशासनमें निबद्ध रहकर राष्ट्र-सेवा, जन-सेवा यथायोग्य, यथासमय करने-करानेके प्रेरक लेख-पट्टिकाओंकी भरमार 'जल्दी काम निबटाइये', 'परिश्रमके सिवा कोई चारा नहीं है', 'संरक्षा, सुरक्षा, समय-पालन ही हमारा लक्ष्य है', 'घातक जल्दीसे देर भली', 'शिकायतकी किताब यहाँ है' आदि तथा ध्वनि-विस्तारक लाउडस्पीकर आदि यन्त्रोंके द्वारा उद्घोषणा, बार-बार चेतावनियाँ तथापि काम-काजका यथासमय, यथायोग्य जनहितमें, लोक-राष्ट्रहितमें, देशहितमें न होना, न करना-कराना—ये सब अनुशासनहीनतापूर्वक या अनुशासनकी अवहेलनापूर्वक शिक्षाके अभावके सबल प्रमाण हैं । यदि यह सब शिक्षाका ही फल है तो अशिक्षाका फल क्या है ? वह क्या होता है ? उसका क्या स्वरूप है ? यह महत्त्वपूर्ण विचार सामने आता है ।

कहीं-कहीं कार्यके फलको देखकर कारण,साधन और उसके दोष-गुणकी तथा सच्छिद्र-निश्छिद्रकी कल्पना एवं अनुमान करना पड़ता है । शास्त्रोंमें इसीको 'फलवत्कल्प्य सिद्धान्त' कहते हैं । यद्यपि पुत्र वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालयमें पढ़ता है, उसका पिता देशान्तरमें है । वह नहीं देख रहा है कि पुत्र पढ़ रहा है या नहीं, किंतु परीक्षामें उत्तीर्णरूपी कार्यफलको देखकर वह अनुमान करता है कि पुत्रने विद्याध्ययनमें श्रम किया है । यदि पुत्र परीक्षामें अनुत्तीर्ण हो जाता है तो पुत्रके चाहे जितने विद्याध्ययन-श्रमके प्रमाण देनेपर भी पिता यही कहता है कि फल-कार्य तो सामने आया नहीं । यदि तुम ठीक-ठीक पढ़े होते, श्रम किये होते तो उत्तीर्ण होते । अनुत्तीर्णतारूपी कार्य-फलको देखकर अनुमान होता है कि तुमने विद्याध्ययनमें श्रम नहीं किया, अन्यथा फल आना ही चाहिये । विज्ञानका एवं शिक्षाका फल यह नहीं है, जो ध्वंसात्मक देखनेको, अनुभव करनेको मिल रहा है । अतः कुछ सुविचारक विश्वहितैषी सर्वभूतहितरत सुजन इस बातका अवश्य ही विचार करें-करायें कि यह विज्ञान-शिक्षा क्या है ? इसका क्या फल है ? यह कहाँ ले जा रही है ? तथा इसकी इति किसमें होगी ?

यदि तैत्तिरीयोपनिषद्की शीक्षावल्लीके दसवें अनुवाकमें शिक्षककी शिक्षितको घर जाते समय राष्ट्र-समाज-कार्यमें सहयोग देनेका समय आनेपर जो अनुशासनात्मक दीक्षान्त-सुशिक्षा है उसका कथन, श्रवण, अनुमोदन, आचरण किया जाय तो व्यष्टि-समष्टिकी, देश, समाज, राष्ट्रकी कोई समस्या ही शेष नहीं रहती, जो सदा मुँह बाये सामने खड़ी ही रहे एवं हल न हो—

'सत्यं वद । धर्मं चर । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयादेयम् । श्रिया देयम् । एष आदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् ।'

कुछ सज्जनोंका कहना है कि धर्म मेल-मिलापमें बाधक है, किंतु प्रत्यक्ष प्रमाण है, सत्यप्रत्यक्षानुभूति है और सार्वजनीन है कि विश्वमें नेपाल धर्मपरायण एवं धर्मसापेक्ष राष्ट्र है । वह स्वयं इसे मुक्तकण्ठसे स्वीकार भी करता है । वहाँ सभी सम्प्रदायके लोग प्रेमपूर्वक रहते हैं, किंतु कभी साम्प्रदायिक दंगे या धर्मसम्बन्धी समस्याको लेकर खून-खराबा देखने-सुननेमें नहीं आता । सभी स्नेहसे रहते हैं । मेल-मिलापमें, स्नेहमें धर्म बाधक नहीं, अपितु व्यक्तिगत स्वार्थ बाधक है । उसीमें छीना-झपटी, लूट-खसोट, दंगा-फसाद होता है । **'अशक्तास्तत्पदं गन्तुमतो निन्दां प्रकुर्वते ।'** सम्पूर्ण विश्वके अभिन्ननिमित्तोपादानकारण सर्वात्मा भगवान्के निःश्वासभूत अपौरुषेय वेदादि सच्छास्त्रीय धर्मयुक्त शिक्षासे ही विश्वका सर्वविध कल्याण सम्भव है, शिक्षाभास या कुशिक्षा एवं अशिक्षासे नहीं । अतः शिक्षामें सुधारकी परमावश्यकता है । यही सभी अनुभव कर रहे हैं और कह भी रहे हैं । **'सर्वे भवन्तु सुखिनः।'**

भारतीय संस्कृतिके शिक्षोपयोगी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

[गताङ्क॰ पृ॰ ४९६ से आगे]

आगम या तन्त्र-ग्रन्थ

वेदोंसे लेकर निबन्ध-ग्रन्थोंतककी परम्पराको 'निगम' कहा जाता है। इसीके समान जो दूसरी अनादि परम्परा है, उसे 'आगम' कहा जाता है । आगमके दो भाग हैं— दक्षिणागम (समयमत) और वामागम (कौलमत) । सनातनधर्ममें निगम तथा आगम (दक्षिणागम) दोनोंको प्रमाण माना जाता है । श्रुतियोंमें ही दक्षिणागमका मूल है और पुराणोंमें उसका विस्तार हुआ है । इस आगम-शास्त्रका विषय है—उपासना ।

वैष्णवागम

देवताका स्वरूप, गुण, कर्म, उनके मन्त्रोंका उद्धार, मन्त्र, ध्यान, पूजाविधिका विवेचन आगम-ग्रन्थोंमें होता है । वैष्णवागम स्मृतिके समान प्रमाण माना जाता है । वैष्णवागममें पाञ्चरात्र तथा वैखानस-आगम—ये दो प्रकारके ग्रन्थ मिलते हैं । पाञ्चरात्र-संहिताओंमेंसे केवल तेरह संहिताएँ मिलती हैं—(१) अहिर्बुध्न्यसंहिता, (२) ईश्वरसंहिता, (३) कपिंजलसंहिता, (४) जयाख्य-संहिता, (५) पराशरसंहिता, (६) पाद्म-तन्त्रसंहिता, (७) बृहद्ब्रह्मसंहिता, (८) भारद्वाजसंहिता, (९) लक्ष्मी-तन्त्र-संहिता, (१०) विष्णुतिलकसंहिता, (११) श्रीप्रश्न-संहिता, (१२) विष्णुसंहिता और (१३) सात्वत्संहिता।

शैवागम

ऐसा कहा जाता है कि भगवान् शंकरके मुखसे अट्ठाईस तन्त्र प्रकट हुए, इनमें उपतन्त्रोंको मिलाकर इनकी संख्या २०८ होती है । इनमें भी ६४ मुख्य माने गये हैं, किंतु ये सब उपलब्ध नहीं हैं । शिवाचार्यके प्रामाणिक ग्रन्थ ये हैं—पाशुपतसूत्र, नरेश्वरपरीक्षा, तत्त्वसंग्रह, तत्त्वत्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका, परमोक्षनिराशकारिका, श्रुतिसूक्ति-माला, चतुर्वेद-तात्पर्यसंग्रह, तत्त्वप्रकाशिका, सूतसंहिता, नादकारिका और रत्नत्रय ।

वीरशैव-मतका प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्धान्त-शिखामणि है । प्रत्यभिज्ञामार्गमें ९२ आगम प्रमाण माने जाते हैं । उनमेंसे मुख्य तीन हैं—सिद्धान्ततन्त्र, नामतन्त्र एवं मालिनीतन्त्र । इन तीनोंको त्रिक कहते हैं । ये शिवसूत्रपर आधारित हैं। इनके अतिरिक्त स्पन्दसर्वस्व, शिवदृष्टि, परात्रिंशिका, त्रिवृत्ति, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, सिद्धित्रयी, शिवस्तोत्रावली, तन्त्रालोक आदि इस मतके प्रधान ग्रन्थ हैं।

शाक्तागम

इसमें सात्त्विक ग्रन्थोंको तन्त्र या आगम, राजसको यामल तथा तामसको डामर कहा जाता है । सृष्टिके प्रारम्भसे ही राजस, तामस स्वभावके प्राणी रहे हैं । दैत्य, दानव, असुर अथवा उनके समान स्वभावके मनुष्योंको भी साधन तो मिलना ही चाहिये । अतः उनके लिये इन राजस-तामस ग्रन्थोंका निर्माण हुआ । असुरोंकी परम्पराका मुख्य शास्त्र वामागम है । वैसे तो शाक्ततन्त्रोंकी संख्या सहस्रसे भी अधिक है, किंतु उपलब्ध ग्रन्थोंमें मुख्य ये हैं—कुलार्णव, कुलचूडामणि, तन्त्रराज, शक्तिसंगमतन्त्र, कालीविलास, ज्ञानार्णव, नामकेश्वर, महानिर्वाण, रुद्रयामल, त्रिपुरारहस्य, दक्षिणामूर्तिसंहिता और प्रपञ्चसार । शारदातिलकमें तान्त्रिक रहस्योंका अच्छा संग्रह है । मन्त्रमहार्णव ग्रन्थ तो तन्त्रका विश्वकोष ही है । श्रीविद्याकी दो संतानपरम्परामें लोपामुद्रा-संतानपरम्परा लुप्त हो गयी ।

इन आगमग्रन्थोंमें भी बहुतोंपर भाष्य, टीका, कारिका तथा सारसंक्षिप्त ग्रन्थ हैं । तन्त्रग्रन्थोंमें सूक्ष्म विद्याओंका बड़ा भारी भण्डार है । कहा जाता है कि इन उपलब्ध ग्रन्थोंके अतिरिक्त कई सौ तन्त्रग्रन्थ नेपालमें सुरक्षित हैं । भारतमें भी इन ग्रन्थोंकी संख्या बहुत अधिक ऐसी है जो अज्ञात है । इन ग्रन्थोंके अनुशीलनसे पता चलता है कि ये ग्रन्थ—**'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय'** के सिद्धान्तपर चलकर प्राणीको अमरता-प्राप्तिकी प्रेरणा प्रदान करते हैं । इन सभी शिक्षोपयोगी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी सत्-शिक्षाका शिक्षाके आधारपर दुर्भावपूर्ण व्यवहारसे बचकर राष्ट्रोत्थानमें सतत आचरण करना चाहिये । तभी सबका कल्याण सम्भव है ।

माँ विदुलाकी शिक्षा

[जीवन-संघर्ष]

(पं० श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी)

संजय सिंधुराजसे पराजित होकर युद्धका मैदान छोड़कर घर भाग आया और अकर्मण्य होकर पड़ा रहा। उसकी यह दशा देखकर उसकी माता विदुलाको बड़ा ही क्लेश हुआ। विदुला अत्यन्त बुद्धिमती, बहुश्रुत और राजनीति-कुशल नारी थी। अपने पुत्रके कायरपनको देखकर उसका क्रोध भड़क उठा। वह संजयके निकट जाकर बोली—

'वाह! क्या कहना है बेटा, तेरी वीरताका! युद्धका मैदान छोड़कर रनिवासमें स्त्रियोंकी तरह छिपकर तूने कैसा नाम कमाया है? अरे कुपूत! आज तेरे शत्रु तेरी हँसी उड़ाते हैं और तुझे तनिक भी लज्जा नहीं आती? क्या तू मेरी ही कोखसे जन्मा है? नहीं, कदापि नहीं। तू अपने पिताकी भी संतान नहीं है। कुलाङ्गार! तू तो न जाने कहाँसे पैदा हुआ है।

'शत्रुओंके परिहासको सुनकर भी तुझे क्रोध नहीं आया? मर्द होकर भी तेरे कार्य नपुंसकों-जैसे हैं। जीवित दशामें ही तूने आशाका परित्याग कर दिया है। दुनियामें तेरी गिनती ही नहीं। तुझे धिक्कार है। अरे मूर्ख! अपना कल्याण चाहता है तो इस अकर्मण्यताको छोड़कर पुरुषार्थका आश्रय ले। कायर लड़के! जो मिल जाय उसीमें संतुष्ट होकर अपनी आत्माका अपमान मत कर। जीवनके कल्याणकी साधना कर। भय छोड़ और शत्रुपर चोट कर।

'जैसे बरसाती नालेमें थोड़े-से पानीसे बाढ़ आ जाती है, अन्नके दो-चार दानोंसे जैसे चूहेकी अञ्जलि भर जाती है, उसी प्रकार कायर आदमी थोड़ेमें संतुष्ट हो जाता है।

'मूर्ख संजय! इन घोड़ोंकी ओर देख। ये पशु होनेपर भी युद्धमें कैसा धैर्य और पराक्रम दिखाते हैं। तू तो फिर भी मनुष्य है। अपने स्वरूपको पहचान और अपनी शक्तिके जौहर दिखा। अपने इस कायरपनसे केवल तू ही कलंकित नहीं हुआ है, अपितु तूने सारे वंशको ही डुबा दिया है। याद रख संजय! दुनियामें जिस आदमीके कार्योंका विस्मय और प्रसन्नताके साथ वर्णन न किया जाय, मेरी समझमें वह न तो पुरुष है और न स्त्री। वह केवल मनुष्य-जातिकी संख्या बढ़ानेवाला अधम प्राणी है।

'इस संसारमें जिसने दानके द्वारा अपने यशका विस्तार नहीं किया, जिसने तपका आचरण कर कीर्ति नहीं प्राप्त की, सत्यके प्रति निष्ठा दिखाकर जो प्रशंसित नहीं हुआ, जिसने विद्याके द्वारा ख्याति नहीं पायी और अपने बाहुबलसे विजय-श्रीका अर्जन नहीं किया, उसे मैं मनुष्य नहीं कहती। संजय! वह तो केवल हाड़-मांसका पुतला है। जो अपने अध्ययन, अपनी तपस्या, अपने ऐश्वर्य और अपने पराक्रमके द्वारा साधारण जनोंसे ऊँचा उठ सके, वही मेरी दृष्टिमें पुरुष है।

'सारा संसार जिसे घृणाकी दृष्टिसे देखता है, जो शक्तिहीन और अकिंचन है, जो प्राणधारणके लिये दूसरोंका मुँह जोहता है, उसका कैसा दुःखी जीवन है? ऐसा आदमी स्वयं और उसके भाई-बन्धु भी घड़ीभरके लिये भी शान्ति नहीं पाते।

'याद रख संजय! जो आदमी जरा-सा टुकड़ा पाकर संतुष्ट हो जाता है, जो बात-बातमें हृदयकी दुर्बलता दिखाता है, जो निकम्मा जीवन बिताता है, वह किसी भी महान् कार्यके लिये योग्य नहीं होता। इसलिये मेरे बेटे! इस दुर्बलताको छोड़, अपने हृदयको लोहे-जैसा मजबूत बना और अपने अधिकारको पानेके लिये उठ खड़ा हो।'

इस प्रकार माताके वचनको सुनकर संजयको दुःख हुआ। उसने कहा—'माँ! तुम कैसी जननी हो? तुम्हें सम्पत्ति और अधिकारकी चिन्ता मेरे प्राणोंसे भी अधिक

है। अन्तमें जब मैं ही न रहूँगा तो उस अधिकारका क्या होगा और समस्त पृथ्वीका राज्य किस काम आयेगा? क्या होगा भोग और सुखकी सामग्रियोंका?'

ऐसा सुनकर विदुला बोली—'तू विपरीत समझ रहा है संजय! कोई माता कितनी ही कठोर क्यों न हो, वह संतानकी अहित-कामना नहीं कर सकती। मैं तो यह चाहती हूँ कि तुझे पराजित और भयभीत देखकर जो शत्रु आज मूछोंपर ताव दे रहे हैं, वे एक-एक टुकड़ेके लिये दर-दरकी भीख माँगें। संजय! याद रख, जबतक तू अपने शत्रुओंको परास्त नहीं कर देता, तबतक तू और तेरे बन्धु आत्म-गौरवका अनुभव नहीं कर सकते। यह मत समझ कि तेरा कोई सहायक नहीं है। ऐसा मत समझ कि तू दूसरेके दिये हुए टुकड़े खानेके लिये ही सिरजा गया है। छोड़ दे दैन्य, साहसी बन।

'यदि इस युद्धमें तेरा सर्वस्व भी नष्ट हो जाय तो उसकी चिन्ता मत कर। मैदानमें आकर पैर पीछे रखनेका अवसर कहाँ? याद रख, पराजित होनेपर तेरी वह दशा होगी, जिसे मुनीश्वरोंने अत्यन्त हेय बतलाया है। दरिद्र आदमीका जीना भी क्या जीना है? आज घरमें अन्न नहीं है, कल क्या होगा—ऐसी चिन्ता करते हुए जीनेसे मरना लाख गुना अच्छा है। इस दुःखके समक्ष तो अपनी आँखोंके सामने पति-पुत्रकी मृत्युको देखनेका दुःख भी तुच्छ है।

'संजय! मैं तेरी माता हूँ तथा अपने उत्तम कुल और ऐश्वर्यके कारण सदैव सबके आदरकी पात्र रही हूँ। हाय! आज तेरे कारण सारी दुनिया मेरी और मेरी कुलवधू—तेरी पत्नीकी दुर्दशा होते देखेगी, तब क्या तुझे लज्जा नहीं आयेगी? तब भी क्या तू इस तरह अपने प्राणोंका मोह करता रहेगा? तेरे दास-दासियाँ और आचार्य जीविकाके अभावमें तेरा साथ छोड़कर चले जायँगे, तब भी क्या तू जीना चाहेगा? हाय! उस दशामें जब कोई याचक मेरे सामने हाथ फैलायेगा तो 'नहीं' कहते मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े न हो जायगा? आजतक मैंने और मेरे स्वामीने किसी याचकके समक्ष 'ना' नहीं कहा। संजय! यदि तेरे कारण मेरी ऐसी दशा हुई तो मैं एक क्षण भी जीवित न रह सकूँगी।

'पुत्र संजय! यह मत समझ कि तेरे शत्रु संख्यामें, बलमें, साधनमें तुझसे अधिक हैं, इसलिये तू उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। नहीं, ऐसा नहीं है! देख कि तेरा प्रधान शत्रु कौन है। साहसके साथ उसका काम तमाम कर दे। शेष लोग तो स्वयं ही पके हुए धानकी तरह तेरे पैरों-तले झुक जायँगे।

'अच्छी तरह जान ले संजय! स्वर्ग-द्वार बिना पौरुषके नहीं खुलता। अमरता प्राणोंके बलिदानके बिना पायी नहीं जाती। इसलिये उठ और शत्रुओंपर जलते अङ्गारोंकी तरह बरस पड़।'

यह सुनकर संजयने कहा—'माँ! तुम बड़ी कलह-प्रिय हो। सदा तुम्हें लड़ाई-झगड़ेकी बात सूझती है। तुम्हारा दिल पत्थरका है। तुम इस तरह बातें करती हो जैसे मेरा जन्म तुम्हारी कोखसे नहीं हुआ है। तुम कभी मेरी जननी नहीं हो, जो मुझे इस तरह लड़ाईमें झोंक देना चाहती हो। यदि मैं मर गया तो इस राज्यको लेकर तुम क्या करोगी?'

विदुला बोली—'नहीं, नहीं पुत्र! तू भूल रहा है। मैं तेरी जननी हूँ। मेरी कोखसे ही तूने जन्म लिया है। मेरा तुझपर वैसा ही स्नेह है, जैसा संसारकी सब माताएँ अपने पुत्रपर करती हैं। पर बेटा! तू सोच तो, मेरा स्नेह यदि तेरे कर्तव्य-पालनमें बाधक बने, यदि वह तुझे अकीर्तिकर कार्यसे विमुख न कर सके तो उस स्नेहको धिक्कार है। व्यर्थ है ऐसा स्नेह, जो पौरुषको प्रकट करनेके अवसरपर अपनी संतानको कर्तव्य-पथसे मोड़ दे। जो संतान कर्तव्यविमुख होती है, वह केवल अपना ही अहित नहीं करती, अपितु माताके दूधको भी लजाती है। इसलिये मेरे बेटे! इस मूर्खताको छोड़, तभी तेरे प्रति मेरे स्नेहकी सार्थकता है। कर्तव्य-भ्रष्ट होकर संसारद्वारा निन्दित कार्य करनेवाला तू कभी मेरे स्नेहका पात्र नहीं हो सकता।

'बुद्धिमान् कभी क्षुद्र वस्तुको अपना लक्ष्य नहीं बनाते। थोड़ेसे संतुष्ट होनेवाले लोग जीवनभर हाय-हाय करते हैं। क्षुद्र वस्तुका कार्य कभी कल्याणकारी नहीं होता।'

संजय बोला—'माँ! मैं शत्रुसे पराजयकी असह्य चोट खाकर यहाँ लौटा हूँ और तुम घावपर नमक छिड़कती हो। इस समय तो तुम्हें यह चाहता था कि चुप रहकर शान्त-भावसे तुम मुझपर करुणा और सहानुभूति दिखाती। पर तुम उलटे....।'

विदुलाने कहा—'ठीक कहता है संजय! प्रत्येक माता अपनी संतानको दुःखमें धीरज और सहानुभूति देती है, किंतु क्या तू मेरे इन कठोर और रुक्ष वचनोंके पीछे छिपी हुई करुणा और सहानुभूतिका अनुभव नहीं करता? इस समय मैंने माता होकर तेरी—अपनी संतानकी भर्त्सना की है, पर समय आयेगा जब तू अपने विपक्षियोंको युद्धमें पछाड़कर लौटेगा, तब मैं तेरी प्रशंसा करते नहीं अघाऊँगी। आह! तेरी विजय मैं कल्पनाकी आँखोंसे देखती हूँ तो मुझे कितना हर्ष और संतोष मिलता है।'

यह सुनकर संजय कुछ स्वस्थ हुआ और बोला—'माँ! आज न तो मेरे पास धन है, न सेना और न कोई सहायक, फिर मैं कैसे विजयकी आशा करूँ? पराजयके कारण अपमानको मैं अनुभव नहीं करता—यह मत समझो, किंतु असहाय मैं करूँ तो क्या करूँ? मेरे इहलोक और परलोक दोनों नष्ट हुए। अब मुझे कुछ भी नहीं सूझता।'

विदुला बोली—'वत्स संजय! अभीसे मन छोटा करके तू अपनी आत्माका अपमान मत कर। सहायता और साधनोंकी चिन्ता क्या? वे आज नहीं हैं, कल हो भी सकते हैं और आज हैं तो कल नष्ट भी हो सकते हैं। समझदारीसे काम करनेवालेको साधन जुटा लेना कुछ भी कठिन नहीं है। तू कहेगा कि अधिकतर लोग प्रयत्न करनेपर भी असफल हो जाते हैं, किंतु याद रख कि वे लोग मूर्ख हैं और केवल आवेशके वश होकर बिना विचारे किसी कार्यको कर डालते हैं। फिर उन्हें सफलता कैसे मिले? वैसे तो किसी भी प्रयत्नका फल निश्चित नहीं है। जानकर भी जो कठोर रूपसे प्रयत्न करता है, उसका उद्योग सफल भी हो सकता है और विफल भी। पर जो हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रहे, उसकी विफलता तो निश्चित ही है तथा बिना विचार और दृढ़ निश्चयके काम करनेवालोंकी भी वही दशा समझ। इसलिये संजय! यह कार्य होकर ही रहेगा, यह दृढ़ निश्चय कर। मनकी कमजोरियोंको दूर कर। प्रमाद छोड़, उठ और शुभ कर्ममें प्रवृत्त हो जा।

'संजय! तुझमें क्षमता और योग्यता है, इसीसे तुझसे मैंने इतना कहा है। निःशङ्क बन। तू सब कर सकेगा। एक बार तू उद्योग प्रारम्भ तो कर। तेरे सहायक अपने-आप जुट जायँगे। क्या तेरे शत्रुके शत्रु नहीं हैं? हैं, अवश्य हैं। कितने भी हैं, वे उसके ऊपर क्रोधसे भरे बैठे हैं। कितने ही ऐसे हैं जिनका उसने अपमान किया है और कितने ही ऐसे स्वाभिमानी हैं जो उस अहंकारीके गर्वको चूर्ण करनेके लिये उससे लड़ाईके मैदानमें निपटना चाहते हैं। उनका अपने झंडेके नीचे आह्वान कर। उन्हें आशा और विश्वास दिला। मीठे वचन बोल। वे सब तुझे अपना नेता बनायेंगे। इस प्रकार समर्थ बनकर प्राणकी ममता छोड़ जब तू शत्रुपर आक्रमण करेगा तो वह उसी प्रकार तुझसे डरेगा, जैसे बिलमें बैठे हुए सर्पसे दुनिया डरती है।

'संजय! तू कहेगा कि ये सब हवाई बातें हैं। इनमें सचाई कुछ भी नहीं है, परंतु नहीं, मैं भलीभाँति सोच-विचारकर ही ऐसा कह रही हूँ। इसमें पहली शर्त है तेरी निर्भयता। यदि तूने डरकर पैर पीछे हटाया तो फिर क्या आशा। उस दशामें तेरे सहायक या तो भाग खड़े होंगे या शत्रुसे मिल जायँगे। डरनेवालेका कोई भी साथ नहीं देता। बिरले होते हैं ऐसे सहायक, जो अपने नेताको विपत्तिमें देखकर भी उसका साथ दे सकें। अतः तू अपना धैर्य न खोकर उन्हें भयभीत न होने देना। तभी तुझे सफलता मिलेगी।

'बेटा संजय! बस, मुझे तुझसे इतना ही कहना था। मैंने बहुत कड़वी और कठोर बातें तुझसे कही हैं। इसका विचार मत करना। ये सब तेरे पराक्रम और बुद्धिको जाग्रत् करनेके लिये ही मैंने कही हैं, यदि इनमें कुछ भी सचाई तुझे दीखे तो दृढ़ निश्चयके साथ उद्योग करनेके लिये तैयार हो जा।'

विदुलाके इन वचनोंसे राखमें दबी हुई चिनगारी हवा

लगते ही जैसे चमक उठती है, उसी भाँति मनस्वी संजयके मनका पौरुष जाग उठा। उसका हृदय स्वस्थ हो गया। वह अपने मनमें निश्चय करता हुआ बोला—'माँ! मैं भलीभाँति समझ गया। अब मुझे कोई डर नहीं है। जब भूत और भविष्यको प्रत्यक्ष देखनेवाली तुम मेरी पथ-प्रदर्शिका हो तो मुझे कैसा भय? अब या तो मैं अपने अधिकारोंका उद्धार करूँगा या युद्धमें प्राण दे दूँगा। माँ! मुझे क्षमा करो! मैंने बीच-बीचमें तुम्हारी बातोंका प्रतिवाद किया है, किंतु केवल इसलिये कि मैं तुम्हारे श्रीमुखसे कुछ और सुनना चाहता था। उत्साह और शक्ति देनेवाले तुम्हारे वचन सुनकर उसी प्रकार तृप्ति नहीं होती, जिस प्रकार अमृत पीकर। माता! अब मैं तुम्हारी आज्ञाको पूर्णरूपसे पालन करनेके लिये उद्यत हूँ। लो मैं यह चला, शत्रुओंका समूल नाश करके और विजय प्राप्त करके ही अब इन श्रीचरणोंमें प्रणाम करूँगा।' संजय मातृ-कृपासे विजयी होकर लौटा।

सुखदात्री गोमाता

गुणगान करें माँ! निशि-दिन तेरा
दिव्य देवता-रूप स्वरूप।
सकल देवि-देवता विराजित
तुझमें, तेरा रूप अनूप॥

कण-कण तेरा परोपकारी
अणु-अणुमें आनन्द भरा।
रग-रगमें है प्रेम प्रवाहित
सुखदात्री माँ दुःखहरा॥

दर्शन पावन स्फूर्ति-प्रदायक
विश्व-विमोहक वरदायी।
मंगलमय कल्याणस्वरूपा
संग सहारा सुखदायी॥

भूमाता गङ्गामाता माँ!
जग तेरा सम्मान करे।
सकल जगत्में हो सम्मानित
मन तेरा अरमान धरे॥

वेदोपनिषद्की सारस्वरूपा
गोमाता माँ दुग्धप्रदा।
गोपालक श्रीकृष्ण दोग्धा
माँ! तू है वात्सल्यप्रदा॥

वत्स गुणी गुणरूप विश्व है
क्षुधित आज, माँ! दया करो।
क्यों नाराज हुआ संहारक
दो सुबुद्धि माँ क्षमा करो॥

गीतामृतका पान कराओ
संरक्षक अब बने वही।
दैवीगुण सम्पदा-स्वरूपा
शोभित सुरभित वरदमयी॥

कामधेनु माँ स्वयं तुम्हीं अब
पूर्ण करो कामना यही।
दुग्धपान अब करे विश्व यह
वत्सल वत्स-स्वरूप सही॥

गोसेवा, गोरक्षा हो अब
जनगण आत्मोद्धार करें।
गोसंरक्षण तन-मन-धनसे
हो अब विश्वोद्धार करें॥

दो सुबुद्धि, भारत जन-गण-मन
सावधान अब हो तत्काल।
संरक्षित गोवंश सकल हो,
टले विनाशक दुखद दुकाल॥

—मदालसा नारायण

तमसो मा ज्योतिर्गमय

(डॉ० श्रीवरुणकुमारजी तिवारी)

शिक्षाका मूल उद्देश्य—अर्वाचीन शिक्षाका स्वरूप एवं प्रगति

महर्षि अरविन्दका कथन है—'सच्चे शिक्षणका प्रथम सिद्धान्त यह है कि कोई वस्तु सिखायी नहीं जा सकती ।' इस कथनका तात्पर्य यह है कि व्यक्तिके अन्तर्मनमें ज्ञानका भंडार है । जब उसका आन्तरात्मिक विकास होता है, तब उसे ऐसा प्रकाश मिलता है, जो अज्ञानके अन्धकारको दूर करता है । वेदमें भी कहा गया है—'**तमसो मा ज्योतिर्गमय**' । परंतु अधिकांश लोग शिक्षाका संकुचित अर्थ लगाते हैं, जबकि संसारके समस्त प्राणी मनुष्यके लिये शिक्षणका कार्य करते हैं । महर्षि कणाद एवं भगवान् दत्तात्रेय चींटी तथा अन्य छोटे-छोटे जीव-जन्तुओंको उनके विशिष्ट गुणोंके कारण अपना गुरु मानते थे । वस्तुतः शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति या बालकका बौद्धिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक विकास होता है । वह उसके व्यवहारमें परिमार्जन लाती है जो कि व्यक्ति, समाज, देश तथा विश्वकल्याणके लिये आवश्यक है ।

दुर्भाग्यवश आज हम जिस संसारमें रहते हैं, वह एक विचित्र संसार है । एक ओर ज्ञान-विज्ञानमें अभूतपूर्व उन्नति हो रही है, यातायातके विकसित साधनोंसे विभिन्न देशोंकी भौगोलिक दूरी नामशेष हो चुकी है, प्रकृतिकी रहस्यमयी शक्तियोंपर विजय प्राप्तकर मनुष्य धनकुबेर बनते जा रहे हैं, किंतु दूसरी ओर मानव-मानवके बीच, राष्ट्रोंके बीच वैर-भावना, संघर्ष, हिंसा-प्रतिहिंसाके भाव दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं । सुख-शान्तिका प्रशस्त साधन रहनेपर भी असंख्य मनुष्य कष्ट, संत्रास और अशान्तिमें जीवन व्यतीत कर रहे हैं ।

एल्विन टाफलर नामक विद्वान्ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'फ्यूचर शाक'(Future Shock) में इस समस्याका गहराईसे विश्लेषण किया है । नये-नये वैज्ञानिक एवं तकनीकी आविष्कार व्यक्तिके सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेशमें इतनी तीव्र गतिसे परिवर्तन लाते हैं कि वह आश्चर्यचकित रह जाता है । इसी बातको टाफलरने स्पष्ट किया है और कहा है कि 'आज ऐसे शिक्षणकी आवश्यकता है, जो व्यक्तिके अंदर समायोजनकी शक्तियोंका इतना विकास कर दे कि वह तीव्र गतिसे होनेवाले परिवर्तनसे उत्पन्न मानसिक आघातोंको सह सके ।'

पाश्चात्त्य शिक्षा-शास्त्रियोंके विचार

पाश्चात्त्य जगत्के महान् शिक्षा-शास्त्री एवं यूरोपके प्रथम विश्वविद्यालय (एथेन्स नगरके एकेडमी-३८६ ई० पूर्व) के संस्थापक प्लेटोने अपनी 'रिपब्लिक' नामक पुस्तकमें लिखा है—'शिक्षाका उद्देश्य व्यक्तिको शाश्वत मूल्यों तथा '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**'का साक्षात्कार करनेमें सहायक सिद्ध होना है । ये शाश्वत मूल्य परमात्माके गुण हैं, जिनका साक्षात्कार करके व्यक्ति परमात्मासे तादात्म्य स्थापित कर सकता है ।'

शिक्षा-जगत्में प्रकृतिवादकी ज्योति प्रज्वलित करनेवाले, फ्रान्सकी क्रान्तिके अग्रदूत, महान् शिक्षा-शास्त्री रूसो (सन् १७१२—१७७८) ने तो शिक्षा-जगत्की धारणाएँ ही बदल दीं । तत्कालीन समाजमें बालकको बुराइयोंकी गठरी समझा जाता था । शिक्षालयमें डंडेका बोलबाला था । रूसोने बालकको सम्मानका पात्र बनाया, उसे समानता एवं स्वतन्त्रताका अधिकारी घोषित किया । तदनन्तर स्विटजरलैंडके शिक्षा-शास्त्री हेनरिक पेस्टोलोजी (सन् १७४६—१८२६) को रूसोकी प्रकृतिवादी विचारधाराको सुव्यवस्थित करने एवं बाल-केन्द्रित शिक्षा-जैसी नवीन शिक्षण-पद्धतिको विकसित करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ । पेस्टोलोजीके शिष्य डॉ० हरवार्ट (सन् १७७६—१८४१) ने शिक्षाको मनोवैज्ञानिक बनानेके साथ ही उसे [illegible] तत्त्वोंसे विभूषित किया ।

हरबार्टका कथन है—'शिक्षाका सम्पूर्ण उद्देश्य एक ही शब्द 'सद्‌गुण'में निहित है। नैतिकता ही शिक्षाकी समस्या है।'

किंडरगार्टन-प्रणाली

पेस्टोलोजीके दूसरे प्रसिद्ध शिष्य फ्रोबेल (सन् १७८२—१८५२) हुए, जो किंडरगार्टन-प्रणालीके प्रणेता तथा शिक्षा एवं अध्यात्मवादी तत्त्वोंके महान् समर्थक हुए। फ्रोबेलकी किंडरगार्टन-प्रणाली आज सारे संसारमें प्रचलित है। उनका विचार था कि संसारकी समस्त वस्तुओंका जन्मदाता एक ही है और वह ईश्वर है। अपने सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—'सृष्टिके सभी पदार्थोंमें एक शाश्वत नियम व्याप्त होकर शासन करता है। यह नियम निश्चय ही किसी सर्वव्यापक, स्फूर्तिमान्, सजीव चेतन तथा एकतापर अवलम्बित है। सभी पदार्थ इसी दैवी एकता या ईश्वरमें और उसके द्वारा जीते हैं और रहते हैं। प्रत्येक पदार्थमें जो दैवी स्फुरण होता है, वही उस पदार्थका चेतन तत्त्व है।' इसी सिद्धान्तसे अनेकतामें एकताको समझा जा सकता है। फ्रोबेलके अनुसार जिस प्रकार माली बागके पौधोंको केवल खाद-पानी आदि देकर उनकी देखभाल करता है, उनकी वृद्धिसे उसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार शिक्षक भी बालकके विकासके लिये वातावरण उत्पन्न करता है। अपनी पुस्तक 'एजुकेशन ऑफ म्यान' (सन् १८२६) में उन्होंने लिखा है—'शिक्षाका उद्देश्य पावन, विशुद्ध एवं श्रद्धायुक्त जीवनकी प्राप्ति है।' किंडरगार्टन-प्रणालीके प्रमुख सिद्धान्त हैं—(१) एकता, (२) विकास, (३) स्वक्रियाद्वारा शिक्षा, (४) खेलद्वारा शिक्षा, (५) स्वतन्त्रता और (६) सामाजिकता।

मांटेसरी-प्रणाली

मांटेसरी-प्रणाली शिक्षाकी एक अन्य क्रियात्मक विधि है, जिसका प्रवर्तन इटलीकी प्रसिद्ध शिक्षिका डॉ॰ मेरिया मांटेसरी (सन् १८७०—१९५२) ने सन् १९०६ ई॰में किया। मांटेसरीका कथन है—'मानवता अपनी विश्वमें शान्ति और एकता प्रमुख हैं, उसी समस्याओंका,

समय समाधान कर सकती है जब उसका ध्यान बालककी खोज और मानवीय व्यक्तित्वकी असीम सम्भावनाओंके विकासमें लग जायगी।'

अमेरिकाके प्रसिद्ध दार्शनिक और शिक्षा-शास्त्री जॉन डीवी (सन् १८५९—१९५२) तथा इंग्लैंडके शिक्षा-शास्त्री बर्ट्रेंड रस्सेलके शिक्षा-सम्बन्धी प्रगतिशील एवं मनोवैज्ञानिक विचारोंके द्वारा भी शिक्षा-जगत्‌में नवीन मार्ग प्रशस्त हुआ।

प्राच्य शिक्षा-शास्त्रियोंके विचार

पांडिचेरीमें अरविन्द-आश्रमके संस्थापक महर्षि अरविन्द (सन् १८८२—१९५२) के अनुसार शिक्षाका सर्वोच्च उद्देश्य मनुष्यका आध्यात्मिक विकास करना है; क्योंकि आध्यात्मिक विकास ही मनुष्यको पूर्ण मानव बना सकता है। आध्यात्मिक विकासके लिये अरविन्दने योग, साधना तथा ब्रह्मचर्यपर बड़ा बल दिया है।

'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'के सिद्धान्तको विश्वके समक्ष रखकर शान्ति एवं मानवताका पाठ पढ़ानेवाले एवं 'विश्वभारती'के संस्थापक गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर (सन् १८६१—१९४१) का नाम भारतीय शिक्षा-जगत्‌में अमर रहेगा। उनका कथन है—'शिक्षा मस्तिष्कको अन्तिम सत्यको पाने योग्य बनाती है।'

एक अन्ताराष्ट्रिय विश्वविद्यालयके रूपमें २२ दिसम्बर सन् १९१८ ई॰को 'विश्वभारती' की स्थापना हुई, जिसके निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित हुए—(१) प्राच्य एवं पाश्चात्त्य संस्कृतियोंका अध्ययन, (२) शिक्षा प्रकृतिवादी सिद्धान्तोंके अनुकूल देना, (३) मानवताका प्रचार, (४) छात्रोंको सादगी, संयम और सरलताका अभ्यास कराकर उनके विश्वबन्धुत्वकी भावनाका विकास करना।

'विश्वभारती'के विभिन्न विभाग इस प्रकार हैं—हिंदी-भवन, चीनी-भवन, शिक्षा-भवन, संगीत-भवन, शिल्प-भवन, श्रीनिकेतन, पाठ-भवन एवं विद्या-भवन। वर्तमानकालमें यह विश्वविद्यालय केन्द्रशासित है, जिसमें विश्वके कोने-कोनेसे विद्यार्थी ज्ञानार्जनके लिये आते हैं। इस प्रकार उन्होंने विश्वबन्धुत्वकी कल्पनाको साकार किया। डॉ॰ राधाकृष्णन्‌ने लिखा था—'गुरुदेव **वसुधैव कुटुम्बकम्**

के जीते-जागते उदाहरण हैं, उन्हें मानवीय एवं दिव्य प्रकृतिका प्रातिभज्ञान है।'

किंतु ब्रिटिशकालमें भारतकी अधिकांश जनता व्यापक शिक्षाके लाभसे वञ्चित रही। अंग्रेजोंने शिक्षाका लक्ष्य सरकारी नौकरीके लिये उपयुक्त कर्मचारी तैयार करना ही माना था। फलस्वरूप भारतीयोंका शारीरिक, मानसिक एवं चारित्रिक विकास कुण्ठित होता जा रहा था। अतः महात्मा गाँधीने एक नये जनतन्त्रकी शैक्षिक आवश्यकताओंको ध्यानमें रखते हुए 'बेसिक शिक्षा-प्रणाली'का सूत्रपात किया। ३१ जुलाई सन् १९३७ ई॰के 'हरिजन'में शिक्षाके सम्बन्धमें उन्होंने लिखा था—'शिक्षासे मेरा अभिप्राय बालकके शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक विकाससे है। बालककी अन्तःशक्ति एवं सौन्दर्यको विकसित करना ही शिक्षा है।'

इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये २२ अक्टूबर सन् १९३७ को वर्धामें गाँधीजीकी अध्यक्षतामें देशके शिक्षा-विशेषज्ञोंका सम्मेलन बुलाया गया। विचार-विमर्शके पश्चात् डॉ॰ जाकिर हुसेनकी अध्यक्षतामें एक समिति बनायी गयी। जाकिर हुसेन-समितिकी योजनाको सर्वसम्मतिसे पारित किया गया। यह बुनियादी शिक्षा ही 'राष्ट्रिय शिक्षा-योजना'-के रूपमें आज हमारे देशमें प्रचलित है। इस शिक्षा-योजनाको सन् १९३७ में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलोंने अपने प्रदेशोंमें लागू किया था। उत्तरप्रदेश इस दिशामें सब प्रान्तोंका अग्रणी रहा है। सन् १९३९ में आचार्य नरेन्द्रदेवकी अध्यक्षतामें एक समिति नियुक्त की गयी, जिसे प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षाके प्रसारकी सम्भावनाओंकी जाँच करने तथा संस्तुतियाँ देनेका काम सौंपा गया था। उत्तरप्रदेशमें 'नरेन्द्रदेव-समिति'की संस्तुतियोंके आधारपर मूल बुनियादी शिक्षा-योजनामें कुछ परिवर्तन करके उसे अपनाया गया है।

नयी शिक्षा-प्रणाली

अब पूरे भारतमें शिक्षाकी नयी प्रणाली (१०+२)-का कार्यान्वयन होता है, जिसमें दस वर्षतक स्कूली शिक्षाका प्रावधान है। उत्तरप्रदेशमें इस प्रकारकी व्यवस्था पहलेसे ही है। दशवर्षीय शिक्षाको अन्तमें दो वर्गोंमें बाँट दिया गया है। जो छात्र व्यावसायिक विषयोंके अध्ययनके लिये अधिक उपयुक्त हैं, उनके लिये व्यावसायिक विषयोंकी शिक्षा होगी। विद्यार्थियोंका जो वर्ग उच्च अध्ययनमें रुचि रखता है, उन्हें इस प्रकारकी शिक्षा दी जायगी जो उन्हें विश्वविद्यालयोंमें त्रिवर्षीय शिक्षा प्राप्त करनेके लिये तैयार करेगी। विश्वके महान् शिक्षा-शास्त्रियोंकी विचारधारापर एक विहंगम दृष्टि डालनेके पश्चात् हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि 'शिक्षाका उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति एवं विश्व-मानवताका विकास करके मनुष्यको पूर्ण मानव बनाना है।' परंतु वर्तमान समयमें संकीर्ण अन्ताराष्ट्रियताने मानव-मानवमें भेद उत्पन्न करके मानवसमाजको दो महायुद्धोंमें झोंक दिया और अभी इन युद्धोंकी आग बुझ ही पायी थी कि तृतीय युद्धके बादल मँडराने लगे। ऐसी दशामें यदि हम मानव-कल्याण चाहते हैं तो शिक्षाद्वारा बालकोंमें अन्ताराष्ट्रिय सद्भावनाका विकास करना होगा।

शिक्षाद्वारा अन्ताराष्ट्रिय सद्भावनाका विकास

विश्वबन्धुत्वकी भावनाके विकासके लिये सन् १९१४ में छिड़े प्रथम विश्वयुद्धकी समाप्तिके पश्चात् श्रीमती एन्ड्रूजने अन्ताराष्ट्रिय शिक्षा-विभागको 'लीग ऑफ नेशन्स'-में सम्मिलित करनेका असफल प्रयास किया। सन् १९२६ ई॰में 'कमीशन्स ऑफ इन्टलेक्चुअल को-आपरेशन'की स्थापना हुई, किंतु धन, शान्ति एवं सहयोगके अभावमें सफलता प्राप्त न हो सकी। परंतु द्वितीय विश्वयुद्धके पश्चात् विश्वके प्रतिनिधियोंने संयुक्त राष्ट्रसंघ चार्टरोंमें इसका प्रावधान किया और लन्दनमें संयुक्त राष्ट्र-संघकी ओरसे एक सभा बुलायी गयी, जिसने यूनेस्कोकी स्थापना की, जो आज अन्ताराष्ट्रिय स्तरपर शिक्षा-प्रतिक्रियाको नियन्त्रित एवं निर्देशित करनेका अनवरत प्रयास कर रही है। सन् १९४७ में यूनेस्कोने 'अन्ताराष्ट्रियताके लिये शिक्षा' के संदर्भमें शिक्षालयोंमें सामाजिक विज्ञानको माध्यम बनाते हुए कुछ सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया, जिसमें कहा गया है कि सामाजिक विज्ञानको पढ़ाते समय सौहार्दपूर्ण मानवीय सम्बन्धोंमें, सामाजिक घटनाओं, अन्ताराष्ट्रिय तनावोंपर विचार करना चाहिये और प्रजाति,

धर्म एवं संस्कृतिके कारण जो आर्थिक एवं शैक्षणिक स्तरपर भेदभाव माना जाता है उसे दूर करनेका प्रयास करना चाहिये । यूनेस्कोद्वारा प्रकाशित पत्रिका 'टुआर्ड वर्ल्ड अन्डर स्टैंडिंग'में विश्व-समाज एवं विश्व-मानवतावाद-सम्बन्धी लेखोंका निरन्तर प्रकाशन इस संदर्भमें एक आदर्श कार्य है ।

भारतमें शारीरिक शिक्षा—बदलते प्रतिमान

(श्रीचाँदमलजी वर्मा)

व्यायामकी महत्ता सभी स्वीकार करते हैं । चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदिने इसपर कई अध्याय लिखे हैं । मराठी व्यायाम विज्ञान-कोशमें वेद, योगादि प्राच्य एवं पाश्चात्त्योंके विचारका समग्र संग्रह है । व्यायाम या शारीरिक शिक्षा क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए ओबरिट्यूफर महोदयने कहा है—'शारीरिक शिक्षा उन अनुभवोंका कुल जोड़ है, जो व्यक्ति-विशेषको प्रक्रिया (शारीरिक आन्दोलन)-से प्राप्त होते हैं ।

शारीरिक शिक्षाके लक्ष्यको इङ्गित करते हुए जे० एफ० विलियम्स कहते हैं—'शारीरिक शिक्षाका लक्ष्य व्यक्तिको उन परिस्थितियोंमें कुशल-नेतृत्व प्रदान करना है, जिनके द्वारा एक व्यक्ति शारीरिक रूपसे स्वस्थ, मानसिक रूपसे सजग रह सके तथा सामाजिक जीवनमें परिस्थितियोंके अनुरूप कार्य कर सके । इस प्रकार शारीरिक शिक्षाद्वारा हम कुशल-नेतृत्व, अधिक सुविधाएँ, प्रत्येक व्यक्तिके लिये खेलमें भाग लेनेकी सम्भावना, वह अनुभव जो शारीरिक रूपसे पूर्ण, मानसिक रूपसे साहसपूर्ण तथा सामाजिक रूपसे उचित हो, क्रीडा-कौशलमें वृद्धिका उद्देश्य, रिक्त समयका सदुपयोग और ज्ञान-वृद्धि आदि कर सकते हैं ।

शारीरिक शिक्षाकी मुख्य क्रियाओंको हम निम्न रूपोंमें देख सकते हैं—(१) शोधक क्रियाएँ—इन प्रक्रियाओंद्वारा बालकके शारीरिक अङ्गोंकी कमजोरियों एवं विकृतियोंका शोधन होता है, (२) खेलकूद, तैरना, (३) आत्मरक्षक क्रियाएँ, (४) बुनियादी व्यायाम—इसके अन्तर्गत संतुलनके लिये चलना-फिरना, दौड़ना, चढ़ना-उतरना आदि क्रियाएँ की जाती हैं, (५) बाल-नृत्य—इसमें लेजिम, टिप्परी तथा नृत्य एवं बाल जिमनास्टिक शामिल हैं, (६) मनोरञ्जन-क्रियाएँ—इनके अन्तर्गत शिविर लगाना, लंबी दूरीतक पैदल चलना, सैर करना तथा प्रकृतिकी जानकारी शामिल है, (७) यौगिक क्रियाएँ—आसन, प्राणायाम, यौगिक क्रियाएँ इनके अन्तर्गत की जाती हैं ।

शारीरिक शिक्षासम्बन्धी क्रियाओंके प्रशिक्षण तथा विकासकी दृष्टिसे निम्नाङ्कित बातें द्रष्टव्य हैं—(१) बच्चोंके व्यक्तित्वका सर्वाङ्गीण विकास ही इष्ट है । मस्तिष्कके मूल्यपर शरीरका और शरीरके मूल्यपर मस्तिष्कका विकास लाभकारी नहीं है । (२) प्रेरणा शिक्षणका प्रथम सोपान है । प्रशिक्षकको ज्ञात होना चाहिये कि बच्चेकी अमुक खेलके प्रति रुचि है या नहीं? (३) क्रीडाएँ ऐसी हों, जो संतुष्टि प्रदान कर सकें । (४) प्रारम्भमें सिखलायी गयी उन्नति बहुत तीव्र होती है, उसके उपरान्त ऐसी स्थिति आती है जब शिक्षा थोड़े समयके लिये अवरुद्ध हो जाती है । प्रशिक्षकको स्थितिका सामना करनेके लिये अपने अनुभवका भरपूर उपयोग करना चाहिये । (५) अभ्यास नियमित होना चाहिये । जहाँतक सम्भव हो, अभ्यासकी अवधि अल्प एवं छोटी हो, लंबी अवधि अरुचि पैदा कर देती है । (६) नकारात्मक भावनाओंको हटाकर बालकमें विश्वास पैदा करना चाहिये । (७) क्रीडा-कौशलका कार्यक्रम सरलसे जटिल, ज्ञातसे अज्ञात और अनौपचारिकसे औपचारिकके सिद्धान्तपर बनना चाहिये ।

शारीरिक शिक्षाके आधुनिक मोड़

प्राचीनकालसे ही भारतमें शारीरिक शिक्षाका अस्तित्व बना हुआ है । भारतमें स्वतन्त्रतासे पूर्व केवल ५ प्रशिक्षण-संस्थाएँ थीं, जो अब बढ़कर ७० हो गयी हैं । इस क्षेत्रमें सर्टीफिकेट, डिग्री, डिप्लोमा, एम्० एड्०

(एक साल), एम्० ए०, शारीरिक शिक्षा तथा मनोरञ्जन (दो साल) आदि प्रशिक्षणोंके साथ अनुसंधान-कार्य भी चल रहा है। राष्ट्रिय क्रीड़ा-संस्थान, पटियालाद्वारा विभिन्न खेलोंमें कोचिंग दी जाती है। सर्वप्रथम १८८२ई०में भारतीय शिक्षा-आयोगने शारीरिक शिक्षाको मान्यता प्रदान की। १८९४ई०में शारीरिक शिक्षाको एक अनिवार्य विषय बनानेका प्रयत्न किया गया, परंतु इसमें सफलता न मिली। इस शताब्दीके प्रथम चरणमें ही 'शारीरिक शिक्षामहाविद्यालय, मद्रास'से प्रशिक्षित अध्यापक निकल गये। १९३१ई०में हैदराबादमें, १९३२ई०में कलकत्तामें तथा उसी वर्ष 'क्रिश्चियन कालेज ऑफ फिजिकल एजूकेशन लखनऊ'में राजकीय शारीरिक शिक्षा-महाविद्यालयकी स्थापना हुई। १९३८ई०में 'प्रशिक्षण-संस्थान कान्दीवली (बम्बई)' की स्थापना हुई। १९१४ ई०में विद्या-बन्धुओंद्वारा 'श्रीहनुमान-प्रचारक-मण्डल, अमरावती' की स्थापना हुई। इसी संस्थाद्वारा १९२४ई०में ५ सप्ताहका प्रशिक्षण-शिविर स्त्रियोंके लिये आयोजित किया गया, इसे पूरा करनेवालेको व्यायाम-विशारदका प्रमाण-पत्र दिया जाता था। १९४६ई०-में अखिल भारतीय शारीरिक शिक्षा-काँग्रेसद्वारा भारतमें 'शारीरिक शिक्षा तथा मनोरञ्जन-संगठन'की स्थापना की गयी।

शारीरिक शिक्षाके क्षेत्रमें स्वतन्त्रताके बाद स्वर्णिम काल आया। भारत-सरकारने १९५०ई०में 'शारीरिक शिक्षा-मनोरञ्जन केन्द्रिय परामर्श-बोर्ड' तथा १९५४ई०में 'अखिल भारतीय खेल-सलाहकार-समिति'की स्थापना की। 'केन्द्रीय परामर्श-बोर्ड'के सुझावपर सरकारने 'लक्ष्मीबाई राष्ट्रिय शारीरिक शिक्षा-महाविद्यालय, ग्वालियर' की स्थापना की। १९६६-६७ई०में बोर्डद्वारा मान्य 'राष्ट्रिय स्वस्थता कोर-कार्यक्रम'को समस्त भारतके विद्यालयों तथा 'शारीरिक शिक्षा-संस्थानों'में लागू किया। 'खेल-सलाहकार-समिति' भारत-सरकारकी ओरसे सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ियोंको 'अर्जुन-पुरस्कार' प्रदान करती है, खेल-प्रतियोगिताओंके लिये वर्षभरका कार्यक्रम बनाती है, खेल-संघोंको केन्द्रीय सरकारसे आर्थिक सहायता दिलाती है, संघोंद्वारा अन्ताराष्ट्रिय टीमोंको आमन्त्रित करनेके लिये सरकारसे अनुमति दिलाती है। संघोंके खेल-स्तरको उन्नत बनाने-हेतु प्रयास और उनके संगठनमें सहयोग देना इस समितिके मुख्य कार्य हैं। खेलोंके स्तरके अध्ययनके लिये १९५८ई०में महाराजा यादविन्दरसिंहकी अध्यक्षतामें एक विशिष्ट समिति संगठित की गयी, जिसे खेलोंका स्तर ऊँचा उठानेके लिये सरकारको आवश्यक सुझाव देने थे। इस समितिका नाम 'खेल-कूदकी तदर्थ जाँच-समिति' रखा गया। १९६०ई०में 'कौल-कपूर समिति'का गठन किया गया। इसके सदस्योंद्वारा विभिन्न देशोंका दौरा किया गया। वहाँके खेल-संगठनों एवं उनकी कार्यप्रणालियोंपर गम्भीर अध्ययन करके १९६१ई०में इस समितिने अपने सुझाव भारत-सरकारको दिये। १९५९ई०में गठित 'कुंजर-समिति'ने शारीरिक शिक्षा, मनोरञ्जन एवं विद्यार्थी-अनुशासनके विषयोंपर अपनी रिपोर्ट १९६३ई०में सरकारको दी। इसके सुझावोंसे प्रभावित होकर भारत-सरकारने एक 'राष्ट्रिय स्वस्थता-कार्यक्रम' प्रारम्भ किया, जो सारे भारतवर्षमें ९ से १६ वर्षतककी आयुके बच्चोंके लिये आवश्यक माना गया, परंतु यह कार्यक्रम सफल नहीं हो सका। एन० सी० सी० कालेजोंके लिये अनिवार्य बना दी गयी, इसे चलानेके लिये विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग, एन० सी० सी० महानिदेशालय, केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय तथा विभिन्न विश्वविद्यालयोंको उत्तरदायी बनाया गया।

राष्ट्रिय अनुशासन-योजना

भूतपूर्व जनरल श्री जे० के० भौसलेने, जो आजाद-हिंद फौजसे संलग्न थे, राष्ट्रिय अनुशासन-योजनाका आरम्भ २४ जुलाई, १९५४ ई०को कस्तूरबा-निकेतन, लाजपतनगर, दिल्लीमें किया। १९५७ ई०में यह योजना भारत-सरकारके शिक्षा-मन्त्रालयको सौंप दी गयी। इसके प्रशिक्षकोंको प्रशिक्षण देनेके लिये १९६० ई०में राजस्थान तथा १९६३ई०में बारवाहा, मध्यप्रदेश आदि स्थानोंपर केन्द्रीय प्रशिक्षण-संस्थाएँ खोली गयीं। ये लोग सारे भारतके स्कूलोंमें काम करते थे। १९६३ई०में 'कुंजरू-कमेटी' के सुझावपर इसका नाम बदलकर ए० सी० सी० तथा शारीरिक शिक्षामें विलय कर दिया गया और इसका नाम बदलकर 'नेशनल

फिटनेस कोर' रखा गया। इसका उद्देश्य था—(१) युवकोंको शारीरिक एवं मानसिक रूपमें स्वस्थ बनाना तथा उनके हृदयमें देशभक्ति, आत्मविश्वास, सहनशीलता और आत्म-समर्पणकी भावनाका विकास करना तथा (२) युवकोंमें राष्ट्रिय सेवा तथा मानव-सेवाके भाव जाग्रत् करना। राष्ट्रिय अनुशासन-योजनाके अधीन सारे भारतमें एक ही प्रकारकी शारीरिक शिक्षाकी क्रियाएँ होने लगीं, किंतु दुर्भाग्य यह कि यह योजना केवल योजना ही रह गयी। यही कारण था कि इसका अन्त शीघ्र ही हो गया।

ए० सी० सी०, एन० सी० सी०

भारतीय पार्लियामेंटके १९४८ई०के ऐक्टके अनुसार एन० सी० सी०को भारतमें लागू किया गया। यह योजना रक्षा-मन्त्रालयके अधीन राज्य-सरकारोंके सहयोगसे चलती है। इसका अपना भी महानिदेशालय है, जिसमें सीनियर, जूनियर तथा लड़कियोंके डिवीजन हैं। इसे चलानेके लिये एक केन्द्रीय सलाहकार-समिति होती है, जिसका अध्यक्ष रक्षा-मन्त्री होता है। १९६२ ई०में चीनके आक्रमणके समय एन० सी० सी० सारे भारतमें अनिवार्य कर दी गयी, परंतु बादमें कॉलेज तथा विश्वविद्यालय-स्तरपर एन० एस० एस०, राष्ट्रिय खेल-संगठन (एन० एस० ओ०)—इन तीनोंमेंसे एक अनिवार्य मानी गयी। ए० सी० सी०, जो १९५२ ई०में जूनियर डिवीजनकी एन० सी० सी०की जगहपर आयी, जिसका मुख्य उद्देश्य राष्ट्रिय सेवा है, इसमें १३ से १६ वर्षके बालक-बालिकाएँ लिये जाते थे तथा प्रशिक्षणमें पी० टी०, खेल, ड्रिल, अच्छे नागरिकके गुण, प्राथमिक चिकित्सा तथा लड़कियोंके लिये होम-नर्सिंग सम्मिलित हैं, १९६५ई०में ए० सी० सी०को 'राष्ट्रिय स्वस्थताकोर'में मिला दिया गया।

राष्ट्रिय स्वस्थताकोर

१९६५ई०में संकटकाल समाप्त होनेपर भारतके विभिन्न राज्योंसे उनके शिक्षा-सचिव तथा शिक्षा-निर्देशक दिल्लीमें एकत्रित हुए। इन्होंने कार्यक्रमको स्कूलके माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक स्तरपर अनिवार्य रूपसे चलानेका लक्ष्य निर्धारित किया। इस योजनाके अधीन प्रक्रिया-सूचियाँ, ड्रिल और मार्चिंग, लेजियम, जिमनास्टिक, लोक-नृत्य, खेलें—छोटी खेलें अथवा रिले दौड़, दौड़-कूद तथा पैदल, द्वन्द्व-युद्ध, अच्छे नागरिकके गुण, राष्ट्रिय आदर्श तथा सामूहिक संगीत-जैसे राष्ट्रिय गीत आदिको सम्मिलित किया गया। भारतके सभी शारीरिक प्रशिक्षण-संस्थानोंको इस पाठ्यक्रमसे अवगत कराया गया, जिससे वे उसे अपने पाठ्यक्रमका अङ्ग बना सकें।

नेताजी सुभाष राष्ट्रिय क्रीडा-संस्थान

१९५८ई०की तदर्थ समितिके सुझावपर पटियालाके मोतीबाग-महलमें भारत-सरकारद्वारा इसकी स्थापना की गयी। इस संस्थानको चलानेके लिये भारत-सरकारकी ओरसे एक बोर्ड बनाया गया है, जिसका नाम 'राष्ट्रिय शारीरिक शिक्षाकी खेल-क्रीडा-सोसायटी' है। इस संस्थानमें एथलेटिक्स, बैडमिन्टन, बास्केटबाल, क्रिकेट, फुटबॉल, जिमनास्टिक, हॉकी, लानटेनिस, तैराकी, टेबल-टेनिस, बालीबाल, मल्लयुद्ध तथा भार उठानेका प्रशिक्षण-कोर्स है। प्रत्येक खेलमें कुशल होना आवश्यक है।

राष्ट्रिय कोचिंग स्कीम

१९५३ई०में भारत-सरकारद्वारा अच्छे खिलाड़ियोंके प्रशिक्षणके लिये एक योजना बनायी गयी, जिसका नाम 'राजकुमारी-कोचिंग-योजना' था। इस योजनाके अधीन ध्यानचंद और ए० जी० रामसिंह-जैसे महान् खिलाड़ियोंने प्रशिक्षकोंके रूपमें काम किया। १९६१ई०में इस योजनाका राष्ट्रिय क्रीडा-संस्थानमें ही विलय कर दिया गया। राष्ट्रिय कोचिंग-योजनामें भारतके मुख्य नगरों जैसे—दिल्ली, हैदराबाद, जयपुर, लखनऊ, नागपुर, बंगलौर, गाँधीनगर, जबलपुर, पटना, अमृतसर, जम्मू तथा श्रीनगर, ग्वालियर आदिको प्रशिक्षण-केन्द्र बनाया गया था। प्रत्येक केन्द्रको केन्द्रीय सरकारकी ओरसे १० हजार रुपये तथा खेल-उपकरणोंकी सहायता दी जाती है।

राष्ट्रिय शारीरिक क्षमता एवं जाँच-परियोजना

भारत-सरकारके शिक्षा-मन्त्रालयने इस परियोजनाका प्रारम्भ १९५९-६०ई०में किया। परियोजनाको आरम्भ

करनेका विचार इसलिये किया गया कि युवक अथवा प्रौढ़ स्त्री एवं पुरुष इन क्रियाओंद्वारा अपनी शारीरिक स्वस्थता बनाये रख सकेंगे। १९६१ई०में लबडेल नामक स्थानपर एक सेमिनार आयोजित किया गया, जिसमें १९६१-६२ई०में होनेवाली इन शारीरिक जाँचोंमें कुछ सुधार किये गये। इस योजनाके फलस्वरूप लड़के-लड़कियोंके लिये आयु-स्तरानुसार अलग-अलग परीक्षण-स्तर रखे गये।

राष्ट्रिय खेल-संगठन तथा संघ

राष्ट्रिय खेल-संघोंमें राज्योंके सदस्य होते हैं। राज्य-स्तरपर खेल-कूद-प्रतियोगिताका समस्त उत्तरदायित्व राज्य-संगठनपर होता है, परंतु देशके विभिन्न खेलोंका उत्तरदायित्व विभिन्न राष्ट्रिय खेल-संघोंपर है। भारतके मुख्य खेल-संघ और उनका स्थापना-काल निम्न प्रकार है—

(१) बोर्ड ऑफ क्रिकेट कंट्रोल फार इंडिया (१९१०ई०), (२) हॉकी फेडरेशन ऑफ इंडिया (१९२८ई०), (३) लान-टेनिस एसोसियेशन (१९२८ई०), (४) अखिल भारतीय फुटबॉल फेडरेशन (१९३७ई०), (५) राष्ट्रिय साइकिलिंग फेडरेशन (१९३७ई०), (६) टेबल-टेनिस फेडरेशन ऑफ इंडिया (१९३७ई०), (७) ऑल इंडिया बैडमिन्टन एसोसियेशन (१९३७ई०), (८) भारतीय तैराकी फेडरेशन (१९४०ई०), (९) एमेच्योर एथलेटिक फेडरेशन ऑफ इंडिया (१९४४ई०), (१०) बास्केटबॉल फेडरेशन ऑफ इंडिया (१९५०ई०), (११) बालीबाल फेडरेशन ऑफ इंडिया (१९५१ई०), (१२) जिमनास्टिक फेडरेशन ऑफ इंडिया (१९५१ई०), (१३) कबड्डी फेडरेशन ऑफ इंडिया (१९५१ई०), (१४) नेशनल रायफल एसोसियेशन ऑफ इंडिया (१९५८ई०), (१५) इंडियन एमेच्योर बौक्सिंग फेडरेशन (१९५८ई०), (१६) याचिंग एसोसियेशन (१९६०ई०), (१७) हैंडबाल एसोसियेशन (१९७०ई०), (१८) रेसलिंग फेडरेशन ऑफ इंडिया, (१९) आरचरी एसोसियेशन आदि मुख्य संघ हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे संघ भी हैं, जो विभिन्न सेवा-संस्थानोंका प्रतिनिधित्व करते हैं—(१) सर्विसेज स्पोर्ट्स कंट्रोल बोर्ड (१९१९ई०), पुनः संगठन (१९४५ई०), (२) स्कूल गेम्स फेडरेशन ऑफ इंडिया (१९४५ई०), (३) इंटर यूनिवर्सिटी स्पोर्ट्स बोर्ड, (४) रेलवे स्पोर्ट्स बोर्ड, (५) ऑल इंडिया पुलिस स्पोर्ट्स कंट्रोल बोर्ड (१९५०ई०)।

भारतीय विद्यालय-क्रीडा-संघ

विद्यालय-क्रीडा-संघकी स्थापना दिसम्बर १९५४ई०-में की गयी। आरम्भमें केवल ७ राज्य इस संघमें सम्मिलित थे, परंतु बादमें संघने अपनी क्रियाशीलताको कश्मीरसे केरल, महाराष्ट्रसे मणिपुरतक २४ खण्डोंमें क्रमशः सभी उच्च विद्यालयोंतक फैलाया। संघका संयोजन एक कार्यकारी परिषद् करती है। संघ अब अन्ताराष्ट्रिय विद्यालय-क्रीडा-संघका सर्वोपरि सदस्य है। संघने अपनी क्रियाएँ ३ भागोंमें विभाजित की हैं—(१) राष्ट्रिय स्तरकी प्रतियोगिताओंका संगठन, (२) योग्य खिलाड़ियोंको ढूँढ़ना तथा उन्हें अतिरिक्त शिक्षा देना, (३) अन्ताराष्ट्रिय प्रतियोगिताओंमें भाग लेना।

स्काउट

भारतमें स्काउटिंगकी शिक्षा १९०९ई०में सरकारद्वारा यूरोपीय एवं ऐंग्लो-इंडियन लड़कोंके लिये प्रारम्भ की गयी। प्रारम्भमें भारतीय विद्यार्थी इसमें भाग नहीं ले सकते थे, किंतु १९१६ई०में श्रीमती एनीबेसेंटद्वारा 'इंडियन बाय स्काउट एसोसियेशन' की स्थापना हुई, जिसके फलस्वरूप १९२१ई०में लार्ड बेडन पावलद्वारा भारतमें 'बाय स्काउट एसोसियेशन ऑफ इंडिया'का निर्माण हुआ। इस लहरने १९२७ई०से १९३८ई०तक बहुत जोर पकड़ा, किंतु इसके साथ-साथ तीन और स्वतन्त्र संघ जैसे 'बाय स्काउट एसोसियेशन ऑफ इंडिया', 'गर्ल्स गाइड्स एसोसियेशन ऑफ इंडिया' तथा 'हिंदुस्तान-स्काउट-एसोसियेशन' भी काम कर रहे थे। द्वितीय विश्वयुद्धसे एक वर्ष पहले बेडन पावलकी भारतीय लोगोंके आचरण तथा स्वास्थ्यपर अवाञ्छनीय टिप्पणीके कारण 'बाय एसोसियेशन'का पतन हो गया। स्वतन्त्रताके बाद तत्कालीन शिक्षा-मन्त्री मौलाना अबुल कलाम आजादने १९५०ई०में 'भारत स्काउट और गाइड'का निर्माण

किया। तबसे लेकर आजतक यह राज्य-सरकारोंकी सहायतासे महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है। इसके माध्यमसे बच्चोंको परमात्मा और देशकी सेवा, लोगोंकी सेवा, स्काउट-नियमोंको मानना, जिसमें मित्रता, विश्वास, साहस, पशुओंपर दया, आज्ञाकारिता, प्रसन्न रहना, कम खर्चीला एवं उदार हृदयवाला व्यक्ति बनाना है तथा बच्चोंमें कैम्प, रैलीज और जम्बूरियमद्वारा निजी सहायता तथा कार्य करनेकी रुचि पैदा की जाती है। यह संगठन ३ वर्षकी आयुवाले लड़के-लड़कियोंके लिये है। लड़कोंके लिये शेर बच्चा स्काउट एवं गैपर्स है। लड़कियोंके लिये बुलबुल, गाइड्स तथा रेंजर्स है।

भारतमें शारीरिक शिक्षाका प्रचार-प्रसार निश्चय ही प्रगतिपर है। हमें यह प्रयास करना होगा कि हर भारतीय शारीरिक शिक्षाके महत्त्वको समझे। हमारा प्रयास यह हो कि कहीं भी कोई बालक यह शिक्षा प्राप्त करनेसे वञ्चित न रह जाय; क्योंकि महान् दार्शनिक अरस्तूने भी कहा था कि 'स्वस्थ शरीरमें स्वस्थ मस्तिष्कका विकास ही शिक्षा है।'

स्वप्नकी परिणति

(श्रीरामपुनीतजी श्रीवास्तव एम्० ए०)

उस दिन मेरे सभी सुहृद्-मित्र, सखा मेरे पास आये और सबने अपने-अपने सुन्दर सपने मेरे पास रख दिये। सबके सपनोंमें निरालापन था, रंगीनी थी, सौन्दर्य था और……। मैंने सबके सपनोंको बटोरकर एक सोनेकी मञ्जूषामें रख दिया और साथ ही अपने सपनेको भी उसीमें डाल दिया।

रात आयी, चाँद आया। चाँदके साथ ही मैं मञ्जूषा लेकर यमुनाके किनारे पहुँचा। मञ्जूषाको रख दिया। चाँदने मञ्जूषाका पट खोल दिया, सब सपने चमकने लगे, मन्द मधुर वायुके झकोरेसे हिलने लगे। चाँद कोई मन्त्र भुनभुनाता हुआ अपने करोंसे सबको निरखने-परखने लगा। फिर सब सपनोंको एकमें मिलाकर उसने एक लाल डोरेमें बाँध दिया और पटको बंद कर दिया।

मन्त्रोच्चारण जारी रहा। इस बार जब मञ्जूषाका पट खोला गया तब आश्चर्यसे देखा कि सबके सपनोंका विलय हो गया है और सबके सपनोंके स्थानपर दो कमल नील और पीत झलक रहे हैं। पर यह क्या! देखते-देखते उन कमलोंमें दो-दो नील-स्निग्ध आँखें झाँकने लगीं। आँखोंके बाद सिर, मुख, गर्दन, छाती, उदर और बाहु आदि अङ्ग प्रकट हो गये। नील कमल एक भव्य श्यामल तरुणके रूपमें बदल गया तथा पीत कमल एक कमनीय गौर तरुणीके रूपमें परिणत हो गया। उनके मुख-मण्डलकी कान्ति और कमनीयता, नेत्रोंकी दीप्ति और सरसता, प्रत्येक अङ्गका गठन अद्भुत था—अलौकिक था। जैसे सारी शोभा और निकाई, समस्त माधुर्य और लुनाई उनके अङ्गोंमें समाहित हो गयी हो।

प्रकृति सज उठी, बाँसुरी बज उठी, पायल झनक उठे, स्नेहका सौरभ गमक उठा। और फिर…… तो क्या सबके स्वप्नोंकी परिणति दो फूल—राधा और कृष्णमें होती है?

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें दैवी और आसुरी सम्पत्ति

अभयसत्त्वशुद्ध्यादिः सम्पद् दैवीति कथ्यते।
दम्भदर्पाभिमानादिरासुरी सम्पदा तथा॥

दैवी और आसुरी—इन दोनों शब्दोंमें 'देव'नाम देवताओंका नहीं है, प्रत्युत परमात्माका है; और 'असुर' नाम राक्षसोंका नहीं है, प्रत्युत प्राणोंमें रमण करनेवालोंका है। गीतामें **'देवदेव'** (१०।१५); **'देवम्'** (११।११,१४); **'देवदेवस्य'** (११।१३); **'देव'** (११।१५) आदि पदोंमें परमात्माके लिये 'देव' शब्दका प्रयोग हुआ है। **'आसुरं भावम्'** (७।१५); **'आसुरः'** (१६।६); **'आसुरनिश्चयान्'** (१७।६) आदि पदोंमें प्राणोंमें आसक्ति रखनेवालोंके लिये 'असुर' शब्दका प्रयोग हुआ है।

'देव' अर्थात् परमात्माके जितने गुण हैं, वे सभी 'दैवी गुण' कहलाते हैं। ये दैवी गुण परमात्माकी प्राप्ति करानेवाली पूँजी होनेसे 'दैवी सम्पत्ति' कहलाते हैं—**'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'** (१६।५)। साधकलोग इसी दैवी सम्पत्तिका आश्रय लेकर भगवान्का भजन करते हैं (९।१३)।

'असु' नाम प्राणोंका है। उन प्राणोंमें ही जो रमण करनेवाले हैं, प्राणोंका ही भरण-पोषण-रक्षण करना चाहते हैं, वे 'असुर' कहलाते हैं; और उन असुरोंका जो स्वभाव है, उनके जो गुण हैं, वे 'आसुरी गुण' कहलाते हैं। ये आसुरी गुण बार-बार जन्म-मरण देनेवाली चौरासी लाख योनियोंमें और नरकोंमें ले जानेवाली पूँजी होनेसे 'आसुरी सम्पत्ति' कहलाते हैं—**'निबन्धायासुरी मता'** (१६।५)। मूढ़लोग इसी आसुरी सम्पत्तिका आश्रय लेते हैं (९।१२)।

संसारसे विमुख होकर और दैवी सम्पत्तिका आश्रय लेकर परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले दो प्रकारके होते हैं—

(१) सगुणोपासक (भक्त)—सगुणोपासकमें श्रद्धा-विश्वासकी, भावकी प्रधानता होती है, अतः वह **'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ····· नातिमानिता'** (१६।१-३)—इन छब्बीस गुणोंको धारण करता है। यह साधक भगवान्को सब जगह देखकर सबसे पहले अभय हो जाता है, फिर इसमें अमानित्व स्वतः आ जाता है।

(२) निर्गुणोपासक (ज्ञानी)—निर्गुणोपासकमें शरीर-शरीरीके विवेक-विचारकी प्रधानता होती है, अतः वह **'अमानित्वमदम्भित्व ····· तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'** (१३।७-११)—इन बीस गुणोंको धारण करता है। इस साधकमें सबसे पहले अमानित्व आता है, फिर सब जगह परमात्माका अनुभव करनेसे वह अभय हो जाता है।

उपर्युक्त दोनों ही प्रकारके साधकोंमें दैवी सम्पत्ति साधनरूपसे रहती है। सिद्ध महापुरुषोंमें यह दैवी सम्पत्ति स्वतः स्वाभाविक रहती है। वास्तवमें सिद्ध महापुरुष गुणोंसे अतीत होते हैं, परंतु उन्होंने पहले साधन-अवस्थामें दैवी सम्पत्तिको लेकर साधन किया है, अतः सिद्ध होनेपर भी उनमें दैवी सम्पत्तिका स्वभाव बना हुआ रहता है। उन सिद्धोंमेंसे सिद्ध भक्तोंके स्वाभाविक दैवी सम्पत्तिके गुणोंका वर्णन बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक हुआ है और सिद्ध ज्ञानियोंके स्वाभाविक दैवी सम्पत्तिके गुणोंका वर्णन चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक हुआ है।

आसुरी सम्पत्तिको धारण करनेवाले भी दो प्रकारके होते हैं

(१) सकामभावसे देवताओंकी उपासना करनेवाले—सकामभावसे देवता आदिकी उपासना करके ब्रह्मलोकतक जानेवाले सभी मनुष्य आसुरी सम्पत्तिवाले हैं। कारण कि उनका उद्देश्य भोग भोगनेका है, वे भोगोंमें ही आसक्त, तन्मय रहते हैं (२।४२-४४; ७।२०-२३; ९।२०-२१)। ऐसे मनुष्योंको अन्तवाला फल ही मिलता है—**'अन्तवत्तु फलं तेषाम्'** (७।२३) और वे बार-बार जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं—**'गतागतं कामकामा लभन्ते'** (९।२१)।

तात्पर्य यह है कि जिनका उद्देश्य सुख, आराम, भोग भोगनेका है, नाशवान् पदार्थोंका है, वे सभी आसुरी सम्पत्तिवाले हैं और जिनका उद्देश्य भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, लोकसंग्रहके लिये, संसारके हितके लिये कर्म करनेका है वे सभी दैवी सम्पत्तिवाले हैं।

(२) काम-क्रोधादिका आश्रय लेकर दुर्गुण-दुराचारोंमें प्रवृत्त होनेवाले—जो मनुष्य काम, क्रोध, अहंकार आदिका आश्रय लेते हैं, वे झूठ, कपट, जालसाजी, बेईमानी, धोखेबाजी, हिंसा आदिके द्वारा दूसरोंको दुःख देते हैं । ऐसे मनुष्य पापोंकी तारतम्यतासे पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष, लता आदि आसुरी योनियोंमें (१६।१९) और कुम्भीपाक, रौरव आदि नरकोंमें (१६।१६) जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवत्परायण होनेसे दैवी सम्पत्ति प्रकट होती है, जो कि मुक्त करनेवाली है। पिण्डपोषणपरायण, भोगपरायण होनेसे आसुरी सम्पत्ति आती है, जो कि बाँधनेवाली और पतन करनेवाली है। अतः साधकको चाहिये कि वह दैवी सम्पत्तिका आदर करते हुए आसुरी सम्पत्तिका त्याग करता चला जाय, तो फिर अन्तमें उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य हो जायगी।

गीतामें योग और भोग

जीवका परमात्माके साथ जो स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है, वह 'योग' है और वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि प्राकृत वस्तुओंके साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है, वह 'भोग' है । संसारके रागका त्याग होनेसे 'योग' होता है और संसारमें राग होनेसे 'भोग' होता है। योग नित्य और भोग अनित्य है।

भोजन केवल निर्वाहबुद्धिसे किया जाय, भोजनके पदार्थोंमें राग न हो, खिंचाव न हो तो ऐसे भोजनसे भी 'योग' हो जाता है; परंतु शरीर पुष्ट हो जाय, बल अधिक हो जाय—इस दृष्टिसे तथा स्वादकी दृष्टिसे भोजन करनेसे, भोजनका रस लेनेसे 'भोग' होता है। तात्पर्य यह है कि रागरहित होकर निर्लिप्ततापूर्वक भोजन करनेसे पुराना राग मिट जाता है और स्वादबुद्धि, सुखबुद्धि न होनेसे नया राग पैदा नहीं होता, जिससे 'योग' हो जाता है। रागपूर्वक भोजन करनेसे पुराना राग पुष्ट होता रहता है और स्वादबुद्धि, सुखबुद्धि होनेसे नया राग पैदा होता रहता है, जिससे 'भोग' होता है।

सांसारिक वस्तु, पदार्थ आदिके रागके त्यागसे जो सुख होता है, उससे 'योग' होता है (१२।१२) और भोगमें जो तात्कालिक सुख होता है, उससे बन्धन होता है (१८।३८)।

एक कहावत है—'एक गुणा दान, सहस्रगुणा पुण्य'। फलकी इच्छासे एक रुपया दान दिया जाय तो हजारगुणा पुण्य होता है अर्थात् हजार रुपयोंके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। अतः ऐसा दान सम्बन्धजन्य भोग पैदा करता है। तात्पर्य यह है कि सकामभावपूर्वक दिये हुए दानसे वर्तमानमें वस्तु आदिका तात्कालिक सम्बन्ध-विच्छेद दीखनेपर भी परिणाममें वस्तु आदिका सम्बन्ध बना रहता है (२।४२-४४)। दान देना कर्तव्य है—इस भावसे, प्रत्युपकारकी भावनासे रहित होकर अर्थात् निष्कामभावपूर्वक दान दिया जाय तो वस्तु आदिसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है (१७।२०); क्योंकि यह त्याग है। त्यागका अनन्तगुणा पुण्य होता है। त्यागसे महान् पवित्रता आती है। त्यागसे तत्काल योग होता है (६।२३)। योगमें संसारका वियोग है (६।२३) और भोगमें संसारका योग है (५।२२)।

दूसरोंको निष्कामभावसे सुख पहुँचानेके लिये, उनका हित करनेके लिये ही उनके साथ जो सम्बन्ध जोड़ा जाता है, उससे 'योग' होता है; क्योंकि उससे अपने राग, सुख, आराम आदिका त्याग होता है; परंतु किसी वस्तु, व्यक्तिसे सुख लेनेके लिये उसके साथ जो सम्बन्ध जोड़ा जाता है, उससे 'भोग' होता है। वस्तु, व्यक्तिसे रागपूर्वक सम्बन्ध जोड़नेसे परमात्माके नित्य-सम्बन्धका अनुभव नहीं होता।

वस्तु, व्यक्तिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर एक सुख होता है। यदि साधक उस सुखका भोग न करे तो 'योग' हो जायगा। यदि वह उस सुखका भोग करेगा, उस सुखमें राजी हो जायगा तो 'योग' नहीं होगा, प्रत्युत 'भोग' हो जायगा।

यदि साधक भोगबुद्धिका सर्वथा त्याग कर दे तो सभी साधनोंसे 'योग' (परमात्माके नित्य-सम्बन्धका अनुभव) हो जाता है। जैसे—कर्मयोगमें केवल सृष्टिचक्रकी मर्यादाको सुरक्षित रखनेके लिये केवल कर्तव्य-परम्पराकी रक्षाके लिये ही निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करनेसे कर्मोंका प्रवाह केवल संसारकी ओर हो जाता है और स्वयंका कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद

होकर, भोगका त्याग होकर परमात्माके साथ योग हो जाता है (४। २३)।

ज्ञानयोगमें सत्-असत्के विवेक-विचारसे वस्तु, व्यक्ति, क्रिया आदि परिवर्तनशीलसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, जिससे परमात्माके साथ 'योग' हो जाता है अर्थात् परमात्माके साथ अपनी स्वतःसिद्ध अभिन्नताका अनुभव हो जाता है (१३। २३,३४)।

भक्तियोगमें सम्पूर्ण क्रिया, पदार्थ आदिको भगवान्का ही समझकर भगवान्के अर्पित किया जाता है, जिससे उन क्रिया, पदार्थ आदिसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर भगवान्के साथ 'योग' हो जाता है अर्थात् भगवान्में आत्मीयता हो जाती है (९। २७-२८)।

ध्यानयोगमें निरन्तर परमात्मामें मन लगाते-लगाते जब मन संसारसे सर्वथा उपराम हो जाता है, केवल ध्येय वस्तु रह जाती है, तब परमात्माके साथ 'योग' हो जाता है, अपने स्वरूपका अनुभव हो जाता है (६। २०, २८)।

अष्टाङ्गयोगमें क्रमशः यम, नियम आदि आठों अङ्गोंका निष्कामभावपूर्वक पालन किया जाय तो उससे संसारके सम्बन्धका त्याग हो जाता है और परमात्माके साथ 'योग' हो जाता है (५। २७-२८)। परंतु उसमें साधकको विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि कहीं वह सिद्धियोंमें न फँस जाय। यदि वह सिद्धियोंमें फँस जायगा तो 'भोग' होगा, 'योग' नहीं होगा।

तात्पर्य यह है कि किसी भी मार्गसे चलनेवाले साधकको व्यवहार-अवस्थामें अथवा साधन-अवस्थामें हरदम सावधान रहना चाहिये। उसे किसी भी अवस्थामें वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ, योग्यता, स्थिरता आदिका सुख नहीं लेना चाहिये; क्योंकि सुख लेनेसे 'भोग' हो जायगा, 'योग' नहीं होगा (१४। ६)।

सात्त्विक सुख सङ्गसे, राजस सुख कर्मोंकी आसक्तिसे और तामस सुख निद्रा, आलस्य एवं प्रमादसे बाँधता है (१४। ६-८)। अतः साधक सावधानीपूर्वक सात्त्विक, राजस और तामस सुखसे बँधे नहीं, उसका सङ्ग न करे तो फिर उसका परमात्माके साथ योग हो जायगा।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान और उसकी शिक्षा

(ज्यो० भू० पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी)

(२)

[विशेषाङ्क पृ०-सं० १८०से आगे]

वेद-चक्षुःस्वरूप ज्योतिर्विज्ञानके इतिहास-लेखक स्व० पण्डित शंकर बालकृष्ण दीक्षितने अपने 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' (मराठी) में, स्व० बा० योगेशचन्द्र रायने अपने 'आमादेर ज्योतिष और ज्योतिषी' (बंगला) में, स्व० महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदीने अपनी 'गणकतरङ्गिणी' (संस्कृत) में तथा भारतीय इतिहासके न जाने कितने लेखक विद्वानोंने अपनी-अपनी रचनाओंमें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि आर्च और याजुष नामसे प्रसिद्ध ग्रन्थ अति प्राचीन हैं। स्वयं वेदोंमें सिनीवाली, राका आदिके प्रमाण, मूर्तियोंका पूर्ण विवरण है। वेद अनादि या खीष्टाब्द २ अरब वर्ष पूर्वके हैं। सूर्यसिद्धान्तादि ज्योतिःसिद्धान्त शक ४२१ से लेकर ई० सन्के पूर्व ४५० वर्षके अन्तर्गत बने हुए हैं। पर दीक्षितजीने लिखा है कि वेदाङ्ग-ज्यौतिषका समय ई० सन्के पूर्व अधिक-से-अधिक १४०० वर्ष और कम-से-कम ५०० वर्ष पूर्व है और उसके पश्चात् ई० सन्के पूर्व ४५० वर्ष सिद्धान्त-ज्यौतिषका समय है। स्व० चिन्तामणि विनायक वैद्यने 'महाभारत-मीमांसा' में लिखा है कि ई० सन्के आरम्भमें ही हमारे ज्यौतिष-सिद्धान्तोंकी रचना हुई है। इन सभी ख्यातिप्राप्त विद्वानोंके कालनिर्णयकी मुख्य युक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) सिद्धान्त-ज्यौतिषकी गणना अश्विन्यादि हैं। अतएव जिस समय [illegible] सूर्य अश्विनीमें होते थे

और अयनांशका अभाव था, उस समय सिद्धान्त-ज्यौतिषकी निरयण-गणनाका आरम्भ हुआ है।

(२) सिद्धान्तोंमें जिस निरयण-गणनाकी व्यवस्था है और अहर्गणद्वारा ग्रहोंके मध्यम गणितद्वारा स्पष्टीकरणका विधान है, वह सब वारगणनाके ज्ञानके बिना हो नहीं सकता और हमारे देशमें वारगणनाका समय ई० सन्के पूर्व ५०० वर्ष (महाभारत-रचनाकाल) के पूर्व माना जाता है; क्योंकि शिवपुराणादिमें वारोंके नाम स्पष्ट हैं।

(३) नित्यानन्दने 'सिद्धान्तराज'में लिखा है— '३६०० कलिगताब्दमें (नवीन संस्कृत) सूर्य-सिद्धान्तकी रचना हुई है और अलबेरूनीने अपनी पुस्तक (अलबेरूनीका भारत)-में लिखा है कि सूर्यसिद्धान्तकी रचना लाटदेवने की है। अतएव उसका समय शक ४०० के लगभग है।

(४) आर्यभट्टने अपने तन्त्र (शक ४२१)में सूर्य-सिद्धान्तकी चर्चा नहीं की। अतएव उस समयतक उसका अस्तित्व नहीं था।

(५) हमारे ज्योतिःसिद्धान्तोंकी सूक्ष्म गणना यूनानियोंसे ली गयी है; क्योंकि हमारी ज्योतिर्गणना तो आर्च और याजुष ज्यौतिषगणनाके समान पञ्चवर्षीय स्थूलतर है, जिसमें ३६६ सावन दिनोंका सौर वर्ष और मध्यम गणनाद्वारा तिथ्यादि-साधनका विधान है। अतएव सिकन्दरके भारताक्रमण (ई० सन्के पूर्व ३२६ वर्ष)के पश्चात् यूनानियोंसे सम्पर्क होनेके बाद ज्योतिः सिद्धान्तकी रचना हुई है।

उपर्युक्त युक्तियाँ सर्वतोभावसे निःसार हैं। वेदाङ्ग-ज्यौतिषके नामसे प्रसिद्ध यजुर्वेद-ज्यौतिषके १८वें और ऋग्वेद-ज्यौतिषके १४वें श्लोकमें नक्षत्रोंके लघु नामोंके वर्णनमें अश्विन्यादि नक्षत्रक्रम रखा है और य० ज्यौ०के १०वें श्लोकमें और ऋ० ज्यौ०के ९वें श्लोकमें ४।। सूर्यनक्षत्रोंके एक ऋतुका वर्णन वेदाङ्गकालमें भगणके १२ भागराशियोंका अस्तित्व सिद्ध करता है और याजुष ज्यौतिषके ११वें श्लोकमें मासपतिके प्रसङ्गमें सात वारोंका भी स्पष्ट वर्णन है (वेदाङ्ग-ज्यौतिषका सुधाकरभाष्य पृ० ९)। इतना ही नहीं, आर्च, याजुष ज्यौतिष एवं आथर्वण नक्षत्र-कल्पको ध्यानपूर्वक देखनेसे ज्ञात होता है कि इनकी रचनाके समयमें हमारे सिद्धान्त-ज्यौतिषकी सूक्ष्म गणना प्रचलित थी और गणितानभिज्ञ वैदिकोंके लिये ही ज्योतिर्विदोंने स्थूलरीतिसे दर्श-पौर्णमास और विषुवसंक्रान्ति, अयन तथा तिथि-नक्षत्रादिके जाननेके लिये स्थूल प्रकार बना दिये थे। आजके इतिहासज्ञ वेदाङ्गके नामसे यद्यपि अत्यधिक महत्त्व दे रहे हैं तथापि वे हमारे मूल ज्योतिःसिद्धान्तके पश्चात् बनाये गये हैं।

नित्यानन्द और अलबेरूनीका लिखना प्रमाणरहित और पक्षपातपूर्ण है। अलबेरूनीने सारी पुस्तकमें भारतीय विद्वद्विभूतियोंको अपमानित करने और हमारी सभ्यताके सर्वथा विरुद्ध बातें लिखनेमें ही अपना गौरव समझा है तथा मुसल्मान बादशाहोंके पण्डित नित्यानन्दने अपनी सारी विद्वत्ता रोमकसिद्धान्तकी दोहाई देनेमें और निरयण-गणनाके आश्रित हमारे ज्योतिःसिद्धान्तोंके विरुद्ध सायनवादमें ही खर्च कर दी है। अतएव उनके लेखका कोई मूल्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि उनके लेख आर्ष सिद्धान्तके विरुद्ध होनेसे सर्वथा अप्रामाणिक हैं।

आर्यभट्टने सूर्यसिद्धान्तकी चर्चा नहीं की, किंतु उनके छः वर्ष बाद ही बड़ी प्रशंसाके साथ इसी सूर्यसिद्धान्तकी चर्चा—**'स्पष्टतरः सावित्रः'**के रूपमें वराहमिहिरने की है। साथ ही ब्रह्मगुप्त (शक ५२०) ने अन्यान्य सिद्धान्तोंकी प्राचीनताका उल्लेख करते हुए ब्रह्मसिद्धान्तके विषयमें लिखा है—**'ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत्खिलीभूतम्।'** इससे निश्चय हो जाता है कि आर्यभट्टके समय (शक ४२१) के बहुत पहलेसे हमारे ज्योतिःसिद्धान्त प्रचलित थे—इसमें संदेह नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि 'भावाभावका प्रमाण' अत्यन्त शिथिल होता है। अतएव जिन लोगोंका यह मत है कि 'आर्यभट्टने सूर्यसिद्धान्तकी चर्चा नहीं की, अतएव उस समयतक सूर्यसिद्धान्त था ही नहीं', वे सर्वथा भ्रममें हैं। वराहमिहिरके समयमें यही सूर्यसिद्धान्त था और बीजके नामपर वराहने 'कल्पकुदिन'में २८ दिन घटा दिये हैं, जिससे गणित करनेमें लाघव और अन्तर एक सौर वर्षमें केवल १ विपल और २४ अतिपलका होता है। वराहमिहिरने जो 'पञ्चसिद्धान्तिका'में सूर्यसिद्धान्तके [illegible] वर्णन किया

है, वह वर्तमान सूर्यसिद्धान्तके ही अनुरूप है। अतएव हमारा वर्तमान सूर्यसिद्धान्त ही मूल सूर्यसिद्धान्त है, इसमें संदेह नहीं है।

यूनानियोंसे सिद्धान्त सीखनेकी कल्पना तो अब सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। पक्षपाती विदेशीय विद्वानोंको भी विवश होकर मानना ही पड़ा है कि भारतीय ज्योतिःसिद्धान्तोंकी गणना यूनानी अथवा किसी विदेशी गणनाके आधारपर नहीं की गयी है। ये सिद्धान्त सर्वथा स्वतन्त्र भारतीय ही हैं ('हमारी प्राचीन ज्योतिष' के पृष्ठ ६०-७०)। वारगणनाका अस्तित्व याजुष ज्योतिषके ११वें श्लोकमें तथा गर्गसंहिताके इस श्लोकमें भी आया है—**अयनान्यृतवो मासाः पक्षास्त्वृक्षं तिथिर्दिनम्।** अर्थात् अयन, ऋतु, मास, पक्ष, नक्षत्र, तिथि और वार—दिन।

वेदाङ्ग-ज्योतिषमें चैत्रादि चान्द्र (सौर-चान्द्र) मासोंके नाम आये हैं। दीक्षितजीने बड़े परिश्रमसे इस बातकी खोज की है और अन्तमें उन्हें विश्वास हो गया है कि स्पष्ट गणनासे चैत्रादि नाम यौगिक सिद्ध नहीं होते। किसी संवत्के चैत्रादि बारहों मासोंकी पूर्णिमाएँ चैत्रादि मास-नक्षत्रोंसे संयुक्त नहीं मिलतीं। अतएव उन्होंने लिखा है कि वेदाङ्ग-ज्योतिषकी गणनासे भी अधिक स्थूल गणना भारतमें जब प्रचलित थी, तभी ये चैत्रादि नाम रखे गये हैं। हमारे इतिहासज्ञ विद्वान् विदेशीय कालगणनाओंकी दुर्दशा देखकर अपने निर्विकल्प वेदाङ्गज्योतिर्विज्ञानकी कालगणना और ग्रहगणनाकी परम्परामें भी आरम्भिक दुर्दशाका विश्वास करते हैं। अतएव वे कहते हैं कि 'भारतकी प्राचीन ज्योतिर्गणना वेदाङ्ग-ज्यौतिषसे भी अधिक स्थूल थी। वेदाङ्ग-ज्यौतिषके पश्चात् यूनानियोंके संसर्गसे सिद्धान्त-ज्यौतिषकी सूक्ष्म गणनाका प्रचार हुआ, जिसके अनुसार अधिमास और क्षयमासकी व्यवस्था की गयी है तथा महाभारतके जुएके प्रणके १३ वर्षपर भीष्मजीने १३ वर्ष, ५ मास और १२ दिनकी व्यवस्था दी थी, जो एक सौर वर्षमें ३६६॥ सावन दिनके अनुपातसे ही सम्भव था।'

उपर्युक्त बातें विदेशी विद्वानोंद्वारा ही प्रचारित की गयी हैं और कतिपय भारतीय विद्वानोंने उन्हींका पदानुसरण किया है, किंतु ये सारी कल्पनाएँ ज्योतिर्विज्ञानके मर्म न जाननेके कारण हुई हैं। इस बातको हमने प्रथम ही दिखला दिया है कि हमारे ज्योतिःसिद्धान्तके गणित ही वास्तविक वेदाङ्ग हैं और वे हैं सर्वथा वैदिक साहित्यके समकालीन। प्रमाणके रूपमें आप देखें कि चैत्रादि मासोंके यौगिक नाम स्थूल गणनाके अनुसार नहीं, सिद्धान्तगणनानुसार ही रखे गये हैं, १३वर्षके जुएके प्रणकी व्यवस्था ठीक-ठीक सिद्धान्तकी सूक्ष्म गणनाद्वारा की गयी है और हमारी सिद्धान्तज्यौतिषकी गणना इतनी प्राचीन है कि उतने प्राचीन कालमें संसारके किसी भागमें ज्यौतिष ही क्या, किसी भी विद्याका अस्तित्व नहीं था।

जिन प्रमाणोंसे चैत्रादि मासोंका अस्तित्व उनकी पूर्णिमाओंके नामोल्लेखसे तथा स्पष्ट मासोंके नाम आनेसे वैदिक-साहित्यकालीन सिद्ध होता है, वे हैं यजुर्वेदकी तैत्तिरीयसंहिता (७।४।८) में **'फाल्गुनीपूर्णमास'** और **'चित्रापूर्णमास'** तै०ब्राह्मण (१।१।२।८)में **'फाल्गुनीपूर्णिमा'**, शतपथब्राह्मण (२।६)में **'फाल्गुनीपूर्णिमासी'**, गोपथब्राह्मण (५।१९)में भी **'फाल्गुनीपौर्णमासी'** और सांख्यायन-ब्राह्मणमें तथा सामविधान-ब्राह्मणमें **'फाल्गुनी'**, **'रौहिणी'** (ज्येष्ठी) और **'पौषी'** पूर्णमासीके वर्णन। इतना ही नहीं, कौषीतकि-ब्राह्मण (१९।२।३)में **'नैषस्य'** (पौषस्य) और **'माघस्य'** और पञ्चविंश-ब्रा० (५।९।९)में **'फाल्गुनः'** और गृह्यसूत्र (२।१।१)में **'श्रावण्याम्, पौर्णमास्याम्'** (२।३।१)-में **'मार्गशीर्ष्याम् चतुर्दश्याम्'** तथा पारस्कर गृ० सू० (३।१२)में **'मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्याम्'** का उल्लेख है तथा इसी प्रकार वैदिक साहित्य, महाभारत और मन्वादि स्मृतियोंके साथ ही चाणक्यके अर्थशास्त्रसे स्पष्टरूपसे सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन कालमें भी आजकी ही तरह चैत्रादि मास ही हमारे राष्ट्रिय मास माने जाते थे।

(क्रमशः)

नारी-शिक्षा

(श्रीमती प्रभादेवी)

शास्त्र-पुराण और वेदोंके अध्ययनसे पता चलता है कि हमारे देशमें प्राचीनकालमें भी स्त्रियाँ विदुषी होती थीं और प्रत्येक क्षेत्रमें उनका योगदान था। गार्गी और मैत्रेयी-जैसी विदुषी स्त्रियाँ इसी देशमें हुई थीं और लीलावतीकी गणित-विद्याको कौन नहीं जानता? श्रीशंकराचार्यके साथ शास्त्रार्थ करनेवाली भारती-जैसी स्त्रीरत्न इसी देशमें उत्पन्न हुई थीं। केवल विद्याके क्षेत्रमें ही ललनाएँ प्रसिद्ध थीं, ऐसी बात नहीं है, अपितु रण-विद्यामें भी वे निपुण होती थीं, रानी लक्ष्मीबाईकी कथा घर-घरमें गायी जाती है। रानी अहल्याबाई होल्कर विधवा थीं, फिर भी अकेली राज्यका संचालन कर अपने राज्यमें अनेक मन्दिर, विद्यालय और जन-कल्याणके लिये अनेक संस्थाएँ बनवायीं जो आजतक इन्दौरमें उनके गुणोंका गान कर रही हैं। चित्तौड़की रानी मीराबाई कविता करती थीं, यह कौन नहीं जानता।

इतना ही नहीं, भारतीय नारियाँ कुशल योद्धा भी होती थीं। नृत्य और गानमें तथा सभी कला-क्षेत्रमें उनका योगदान होता था। बाल-अवस्थामें वे अपने माता-पिताको अपनी विद्या और गुणसे प्रसन्न रखती थीं। वे ही बालिकाएँ पतिगृहमें जाकर गृहलक्ष्मीके रूपमें सम्मानित होती थीं तथा अपने घरके कार्योंका संचालन, सास-ससुरकी सेवा, पतिकी सेवा, पूरे परिवारकी सुख-सुविधाका ध्यान रखकर घरको सदैव स्वर्ग बनाये रखती थीं। वे माता होकर अपनी संतानोंको शिक्षित करती थीं। माताके हाथसे पालन-पोषण पाकर और शिक्षा प्राप्त कर ही बालक योग्य पुरुष बनता है। शास्त्रमें माताको ही प्रथम गुरु माना गया है। महासती मदालसाने गर्भके समयसे ही अपने पुत्रोंको ज्ञान देना प्रारम्भ कर दिया था, इससे उनके तीन पुत्र एक-एक कर शास्त्र-विद्यासे मुक्त होकर संसार-त्यागी हो गये थे। सती सुभद्रा अपने गर्भकालमें अपने पति अर्जुनसे वार्तालाप करते समय यही कहती थीं कि आप रण-विद्याकी ही चर्चा करें, जिससे मेरा पुत्र आपके समान ही अनुपम वीर हो। इसी कारण अभिमन्यु गर्भमें ही रण-विद्यामें निपुण होकर चक्रव्यूहकी रचना सीख गये थे। माता यदि शिक्षित है और अपनी संतानके लिये वैसी कामना करती है तो भगवान् अवश्य उसकी आशाको पूरी करते हैं।

कहनेका तात्पर्य यह है कि नारी-शिक्षा कोई नयी वस्तु नहीं है। समयके बदलावसे इसमें गुण-अवगुण आता गया। प्राचीनकालकी स्त्रियोंमें विद्या-बुद्धि होती थी, जिसका महत्त्व धर्म, सत्य और अपने गृह-परिवारकी सुख-सुविधाका ध्यान रखकर अपनेको त्यागमयी बनाना होता था। अपनी संतानको एक कुशल नागरिक, विद्वान्, बुद्धिमान् और स्वस्थ बनानेके लिये वे अपनेको सदैव न्योछावर करती थीं। कहते हैं कि एक बार किसीने एक दार्शनिकसे प्रश्न किया कि बालककी शिक्षा किस आयुसे प्रारम्भ होनी चाहिये तो उन्होंने उत्तर दिया—उसके जन्मके २५ वर्ष पहलेसे। इस २५ वर्षका रहस्य यह है कि माता बाल्यावस्थासे ही शिक्षित होगी, तभी संतानकी शिक्षा योग्यतम हो सकेगी।

मनुष्य-जीवनमें शिक्षाका ही सबसे अधिक महत्त्व है। किसी भी देश, समाज और व्यक्तिका निर्माण शिक्षापर ही निर्भर करता है। सच्ची विद्या वही है, जिसके द्वारा मानव सम्पूर्ण समुन्नत एवं स्वाधीन बने। मात्र भौतिक उपलब्धियोंको शिक्षाका लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। शिक्षा वही है, जिससे देशकी संस्कृति सुरक्षित रहे, मानवताका विकास हो और राष्ट्रिय चरित्रका निर्माण हो, इसलिये स्त्रियोंको इसमें भारी योगदान देना चाहिये। शिक्षिकाओंको चाहिये कि वे अपनी छात्राओंको सच्ची शिक्षा देकर देशके लिये भारतीय गुणोंसे युक्त, सुदृढ़, साहसी, न्यायमयी, गृहलक्ष्मीके रूपमें तैयार करें और छात्राएँ भी अपने गुरुद्वारा प्राप्त की हुई शिक्षासे अपनेको गौरवमयी बनानेका प्रयत्न करें।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

त्यागका महत्त्व

लगभग चालीस-पचास वर्ष पहलेकी बात है। श्रीरामानन्दजी बहुत अच्छे सफल व्यापारी थे। उनकी पहली पत्नीसे जनार्दन नामक एक पुत्र था। पत्नीके मर जानेपर उन्होंने दूसरा विवाह किया था, उसके मोहनलाल नामक एक पुत्र था। मोहनलालकी माँ जनार्दनसे बड़ा द्वेष रखती थी और अपने पुत्र मोहनलालपर स्नेह। उसका वह मोहभरा स्नेह इतना बढ़ा हुआ था कि उसके कारण वह औचित्य और सत्यको सर्वथा भूल गयी और दिन-रात जनार्दनकी बुराई करने, उसे डाँटने-डपटनेमें लगी रहती। मोहनलालके मनमें भी उसकी माँने विष भर दिया था, अतएव वह भी बात-बातमें अपने बड़े भाई जनार्दनका अपमान करता, उसे गालियाँ बकता और सदा अनुचित व्यवहार करता। जनार्दनका स्वभाव बड़ा अच्छा था। वह विमाताके द्वारा डाँट-फटकार तथा छोटे भाई मोहनलालके द्वारा गाली-अपमान सहकर भी सदा पिता-माताकी सेवा करता और सदा-सर्वदा छोटे भाई मोहनलालके सुख-हितमें लगा रहता। बदलेमें कभी कुछ नहीं करता-कहता। बड़ी नम्रताके साथ पिताकी आज्ञाके एक-एक अक्षरका पालन करता, उनकी रुचिके अनुसार चलता और घरका तथा व्यापारका सारा कार्य निःस्वार्थ-बुद्धिसे सावधानीके साथ सँभालता। इससे पिता उसपर बड़े प्रसन्न थे।

श्रीरामानन्दजीकी पत्नी अपने पतिका मन खराब करनेके लिये झूठी-झूठी बातें गढ़कर सदा-सर्वदा जनार्दनकी शिकायत किया करती; पर श्रीरामानन्दजी हँसकर टाल देते। जब उसकी तथा उसके पुत्र मोहनलालकी दुर्नीति अत्यन्त बढ़ गयी और वे जनार्दनपर तरह-तरहके झूठे लाञ्छन लगाने लगे, तब श्रीरामानन्दजीके मनमें भी कुछ विपरीत भाव उत्पन्न हो गया। इधर मोहनलालका चरित्र भी गिर गया। माँके पास उसके पतिकी दी हुई सम्पत्ति थी, जनार्दनकी माँका गहना भी उसीके पास था। माँ मोहवश मोहनलालको धन देती और वह उसे असत्कार्योंमें उड़ा देता। उसके संगी-साथी भी सब दुराचारी लोग ही जुट गये थे। जनार्दन बहुत नम्रतासे समझाता, पर मोहनलाल उससे उलटे लड़ने लगता और मोहग्रस्त उसकी माँ भी जनार्दनको झिड़ककर कहती कि 'तुम मेरे बेटेको समझाने-टोकनेवाले कौन होते हो ? तुम उससे द्वेष रखते हो, तुम्हें उसका सुख सुहाता नहीं ....।' जनार्दन चुपचाप सब सुन लेता। इन सब बातोंसे श्रीरामानन्दजीका मन और बिगड़ गया और उन्होंने सारी सम्पत्ति जनार्दनको देनी चाही। जनार्दनने नम्रतासे अस्वीकार करते हुए अपनी विमाता तथा भाई मोहनलालके प्रति पिताके मनमें स्नेह-सहानुभूति जगानेका प्रयत्न किया। पर श्रीरामानन्दजी अपने मनमें निश्चय कर चुके थे, अतएव उन्होंने जनार्दनको बिना बताये वकीलके यहाँ जाकर एक वसीयतनामा बनाकर रजिस्ट्री करवा दिया। वसीयतनामेमें श्राद्धादिकी कुछ रकमके अतिरिक्त मोहनलाल और उसकी माताको दस हजार रुपये नकद तथा एक सौ रुपये मासिक वृत्ति एवं चार कमरेका एक छोटा-सा घर दिया गया। मोहनलालकी पत्नीका स्वभाव अच्छा था, इसलिये उसे दस हजार रुपये अलग दिये थे। शेष सब मकान, जमीन, जायदाद तथा नकद आदि मिलाकर लगभग बीस लाखकी सारी सम्पत्ति तथा व्यापारका सारा अधिकार जनार्दनको दिया गया था।

श्रीरामानन्दजीने वसीयतनामा विश्वासी वकीलके पास रखकर यह कह दिया कि 'मेरी वृद्धावस्था है, कभी भी देहावसान हो सकता है। मृत्युके पहले किसीसे कुछ नहीं कहना है; पर मृत्युके बाद ही वसीयतनामेके अनुसार सब कुछ कर देना है।' उन्होंने उन वकीलसाहबको तथा अपने एक हितैषी बन्धुको वसीयतनामेके अनुसार कार्य सम्पन्न करानेका अधिकार दे दिया।

कुछ समयके बाद ही श्रीरामानन्दजीकी मृत्यु हो गयी। इस बीचमें मोहनलालने माँके अनुचित लाड़-प्यारके कारण सारी सम्पत्ति लुटा दी। अभावकी दशामें कुछ होश भी

आया और अपनी बुरी करनीपर बहुत हलका-सा पश्चात्ताप भी जगा। श्राद्धादिके बाद वकील तथा उन हितैषी बन्धुने वसीयतनामेकी बात कहकर उसके अनुसार लिखा-पढ़ी करा दी। इससे मोहनलाल और उसकी माँको बड़ा दुःख हुआ और उससे भी अधिक दुःख हुआ जनार्दनको। जनार्दनकी पत्नी भी बड़ी सहृदया देवी थी, उसे भी बड़ा दुःख हुआ। मोहनलालकी स्त्रीका स्वभाव बहुत अच्छा था। वह अपनी जेठानी तथा जेठमें बड़ी श्रद्धा रखती थी और उसका जेठानीके प्रति बड़ा आदर था। जनार्दनकी पत्नी भी उससे बड़ा स्नेह करती थी। एक दिन जनार्दनकी पत्नीने आँसूभरे नेत्रोंसे अपने पतिसे कहा—'मोहनलालजी, उनकी माता और पत्नी बड़े ही दुःखी हैं। क्या हुआ जो उनसे गलती हुई, घरकी सम्पत्तिमें तो उनका उतना ही अधिकार है, जितना हमलोगोंका। अब हम सुखी रहें, धन-वैभव-सम्पन्न रहें और मोहनलालजी तथा उनकी माता, पत्नी दुःख-भोग करें, यह बड़ा अनुचित है। इधर उनका व्यवहार भी ठीक है। आप इसपर विचार करें और सारी सम्पत्तिका आधा-आधा बँटवारा कर दें। मुझसे उनका दुःख सहा नहीं जाता।'

पत्नीकी बात सुनकर जनार्दन गद्गद हो गया। उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। उसने कहा—'मैं धन्य हूँ जो भगवान्‌ने कृपा करके मुझे तुम-जैसी साध्वी पत्नी दी है। मैं तो स्वयं यही चाहता था। वरं मेरे मनमें तो आती है कि बँटवारा क्यों हो, एक ही घर रहे। सारी सम्पत्ति उनकी ही रहे। हमलोग सँभाल और सेवा करते रहें। हमलोग आज ही माँके पास चलें, आशा है, वे हमारी प्रार्थना सुन ही लेंगी।'

जनार्दन पत्नीको साथ लेकर विमाताके पास गया। मोहनलाल और उसकी पत्नी भी वहीं थीं। जनार्दनने रोकर माँसे क्षमा माँगी और कहा—'माताजी! मुझे आप अपना नौकर समझें, भाई मोहनलाल और आप सब सँभालें। मैं और आपकी यह बहू सेवा करती रहेगी।' और भी वहुत-सी बातें हुईं। मोहनलालकी स्त्री तो शुद्धहृदया थी ही, जेठ-जेठानीके इस व्यवहारसे वह तो आत्मविस्मृत-सी हो गयी। मोहनलालकी माँ तथा मोहनलालका हृदय भी सहसा बदल गया। मोहनलालने भाई जनार्दनके पैर पकड़ लिये, उसकी माँ भी पैरपर गिरने लगी, तब जनार्दनने उसे रोक दिया और उसके पैर पकड़कर रोते हुए कहा—'माँ! मेरे निमित्तसे ही आपको इतना दुःख हुआ है, इसके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ और आशीर्वाद भी। आप मुझे अपना नालायक बेटा समझकर पालिये, पोसिये, मातृ-स्नेह दीजिये।' जनार्दनकी स्त्रीने भी पैर पकड़कर क्षमा माँगी।

त्याग करते कौन रोकता है? जनार्दनने अपना स्वत्व त्याग दिया। घर ज्यों-का-त्यों रह गया। जनार्दन और मोहनलाल दोनों एक-दूसरेसे स्नेह करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे। इतना प्रेम बढ़ा कि सब एक-दूसरेको सुखी देखनेमें ही आनन्दका अनुभव करने लगे। त्यागकी अपार महिमा है। त्यागसे प्रेम होता है और प्रेममें ही आनन्द है। स्वार्थसे द्वेष होता है और द्वेषसे विविध दुःखोंका समूह छा जाता है। त्यागसे शत्रु भी मित्र बन जाता है और स्वार्थसे मित्र भी शत्रु! धन्य है त्यागके महत्त्वको।—बालमुकुन्द जोशी

(२)

ईमानदारीका चमत्कार

कई वर्षों पूर्वकी बात है। दुबेजी एक साधारण चुंगी-लिपिक थे। उनकी परिस्थिति दीनतापूर्ण थी। किसी मित्रकी संकटमें सहायता करनेके कारण उन्होंने उसके कर्जमें अपना मकान जमानतदार बनकर लिखवा दिया। अवधि बीतनेपर कर्जदार रकम न दे सका। साहूकारने दुबेजीको बुलवाया।

दुबेजीने कहा—'अभियोग करनेकी आवश्यकता नहीं, कल प्रातः मैं अपने मकानका अधिकार आपको दे दूँगा।'

साहूकार—आप कहाँ जायँगे?

दुबेजी—अभी तो रिश्तेदारोंके यहाँ सामान डाल दूँगा, पीछे कोई किरायेका स्थान ढूँढ़ लूँगा।

साहूकार चकित हो गया। उसने दुबेजीको प्रणाम किया और कहा—'आपका मकान मैं नहीं लूँगा। मेरा कर्जदार जब भी परिस्थिति सुधरनेपर रुपया दे सकेगा, तब ले लूँगा। आपकी धर्मपत्नीका भी देहान्त हो चुका है। छोटे-छोटे बच्चोंको और आपको मैं इस प्रकार कष्टमें नहीं डालूँगा।'—रेवानाथ तिवारी

परमज्ञानका अधिकारी

[कठोपनिषद्का उपाख्यान]

सत्ययुगकी बात है । जब देशभरमें यज्ञधूमसे आकाश सौरभित होता रहता था, वेद-मन्त्रोंसे दिशाएँ गूँजती रहती थीं, यज्ञका हवि ग्रहण करनेके लिये देवगण स्वर्गसे पृथ्वीपर उतरते थे, पवित्र और आनन्दमयी वाद्यध्वनिसे समस्त जीव प्रफुल्लित होते और यज्ञकर्ता यज्ञकी पूर्णाहुति होनेपर परम श्रद्धासे ऋत्विक्-गणोंको दक्षिणा बाँटते तथा आकाङ्क्षारहित होकर सात्त्विक यज्ञकर्ता वेदविधिका पूर्णतया पालन करते हुए समस्त कार्य सम्पादन करते थे । ऐसे पवित्र युगमें ऋषि वाजश्रवाके सुपुत्र उद्दालक मुनिने विश्वजित् नामका एक यज्ञ किया । इस यज्ञमें सर्वस्व-दान करना पड़ता है । तदनुसार वाजश्रवस् (वाजश्रवाके पुत्र) उद्दालकने भी अपना सारा धन ऋषियोंको दे दिया । ऋषि उद्दालकके नचिकेता नामका एक पुत्र था । जिस समय ऋषि ऋत्विज् और सदस्योंको दक्षिणा बाँट रहे थे और उसमें अच्छी-बुरी सभी प्रकारकी गौएँ दी जा रही थीं, उस समय बालक नचिकेताके निर्मल अन्तःकरणमें श्रद्धाका प्रस्फुरण हुआ। नचिकेताने अपने मनमें सोचा—'जो गौएँ (अन्तिम बार) जल पी चुकी हैं, घास खा चुकी हैं और दूध दुहा चुकी हैं, जो शक्तिहीन अर्थात् गर्भ धारण करनेमें असमर्थ हैं, ऐसी गायोंका जो दान करता है वह उन लोकोंको प्राप्त होता है जो आनन्दसे शून्य हैं ।'

यज्ञके बाद गोदान अवश्य होना चाहिये, परंतु न देनेयोग्य गौके दानसे दाताका अमङ्गल होता है । इस प्रकारकी भावनासे सरलहृदय नचिकेताके मनमें बड़ी वेदना हुई और पिताके अनिष्ट-निवारणके विचारसे उसने कहा—'पिताजी ! मैं भी आपका धन हूँ, मुझे आप किसको देते हैं ?' पिताने कोई उत्तर नहीं दिया । नचिकेताने फिर कहा—'पिताजी ! मुझे किसको देते हैं ?' पिताने इस बार भी उपेक्षा की । धर्मभीरु नचिकेतासे नहीं रहा गया । उसने तीसरी बार फिर वही प्रश्न किया । ऋषि क्रुद्ध हो गये और झुंझलाकर कह उठे—'तुम्हें देता हूँ मृत्युको ।'

पिताके क्रोधभरे वचन सुनकर नचिकेता सोचने लगा कि 'शिष्यों और पुत्रोंकी तीन श्रेणियाँ हुआ करती हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । जो पिता और गुरुका अभिप्राय समझकर उनकी आज्ञाकी कोई प्रतीक्षा किये बिना ही सेवा करने लगते हैं वे उत्तम हैं, जो आज्ञा पानेपर कार्य करते हैं वे मध्यम हैं और जो उनका अभिप्राय समझ लेने और आज्ञा सुन लेनेपर भी उनके इच्छानुसार कार्य नहीं करते वे अधम कहलाते हैं । मैं प्रथम श्रेणीमें चाहे न होऊँ, पर दूसरीमें तो अवश्य हूँ, मैं अधम तो कदापि नहीं हूँ । मुझ-सरीखे गुणसम्पन्न पुत्रको पिताजीने न मालूम क्यों यमको दे दिया ? मृत्यु-देवताका मुझसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? सम्भवतः पिताजीने क्रोधके आवेशमें ही ऐसा कह दिया है, परंतु जो कुछ भी हो, पिताजीका वचन असत्य नहीं होना चाहिये ।' यों विचारकर उसने यमराजके यहाँ जानेका ही निश्चय कर लिया । धन्य पितृभक्ति और धन्य त्याग !

पुत्रकी ऐसी धारणा देख ऋषि एक ओर बैठे पश्चात्ताप कर रहे थे कि 'मैंने क्रोधमें पुत्रसे क्या कह दिया', इतनेमें ही नचिकेताने जाकर पितासे कहा—'पिताजी ! आप अपने पूर्वजोंका व्यवहार देखिये और इस समयके साधु पुरुषोंका व्यवहार देखिये । उनके चरित्रोंमें न कभी पहले असत्य था और न अब है । असाधु लोग ही असत्यका आचरण किया करते हैं, परंतु उस असत्यसे कोई अजर-अमर नहीं हो सकता । मनुष्य सस्यकी भाँति जरा-जीर्ण होकर मर जाता है और सस्यकी ही भाँति कर्मवश पुनः जन्मता है । अतएव इस अनित्य संसारमें मिथ्या आचरणसे क्या प्रयोजन है ? आप अपने सत्यका पालनकर मुझे यमराजके पास जानेकी आज्ञा दीजिये ।'

पिताको बड़ा दुःख हुआ, परंतु पुत्रकी सत्यपरायणता देखकर ऋषिने आज्ञा दे दी । नचिकेताने पिताके वचनोंका पालन करनेके लिये यमसदनकी ओर प्रयाण किया ।

यमराजका अतिथि

निर्भीकचित्त नचिकेताने जब पिताके आज्ञानुसार यमराजके घरपर पहुँचकर पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि यमराज कहीं बाहर गये हुए हैं। नचिकेताको तीन रात्रितक अन्न-जल ग्रहण किये बिना यमराजकी प्रतीक्षा करनी पड़ी। तीसरे दिन यमराजके लौटनेपर घरके लोगोंने उनसे कहा—'साक्षात् अग्नि ही ब्राह्मण-अतिथिके रूपमें घरमें प्रवेश करते हैं। साधु गृहस्थ उस अतिथिरूप अग्निके दाहकी शान्तिके लिये उसे जल (पादार्घ्य) दिया करते हैं। अतएव वैवस्वत! आप उस ब्राह्मण बालकके पैर धोनेके लिये जल ले जाइये। अतिथि तीन दिनोंसे आपकी बाट देखता हुआ अनशन लिये बैठा है; अतएव जब आप स्वयं उसकी सेवा करेंगे तभी वह शान्त होगा। जिस पुरुषके घरपर अतिथि ब्राह्मण बिना भोजन किये रहता है उस मन्दबुद्धिकी सारी आशा और प्रतीक्षाएँ—ज्ञात और अज्ञात वस्तुओंके प्राप्त होनेकी इच्छाएँ, उनके संयोगसे प्राप्त होनेवाला फल, उसकी सम्पत्ति, पुत्र, पशु, सत्यभाषण, यज्ञ और सारे पूर्त (कुएँ, तालाब, धर्मशाला आदि बनानेका पुण्य) नष्ट हो जाते हैं।' इस बातको सुनकर यमराज जलसे भरा हुआ स्वर्णकलश लेकर दौड़े और अतिथि नचिकेताको पादार्घ्य देकर आदरपूर्वक कहने लगे—'ब्राह्मण! तुम नमस्कार करनेयोग्य अतिथि होकर मेरे घरपर तीन दिनसे बिना कुछ खाये-पीये पड़े हो, तुम्हें नमस्कार है और इससे मेरे दोषकी निवृत्ति होकर मेरा कल्याण हो। मुझसे बड़ा अपराध हुआ है। अतएव तुम प्रत्येक रात्रिके लिये एक-एक वरके कुल तीन वर मुझसे माँग लो।'

यमराजकी बातको सुनकर 'सदा संतुष्ट' नचिकेताने यह सोचकर कि पिताको सुख पहुँचाना ही पुत्रका सर्वप्रथम कर्तव्य है, यमराजसे यही पहला वर माँगा—'मृत्यो! तीन वरोंमेंसे मैं प्रथम वर यही माँगता हूँ कि मेरे पिता मेरे प्रति शान्तसंकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जायँ और जब मैं आपके यहाँसे लौटकर घर जाऊँ तो वे मुझे पहचानकर मुझसे प्रेमसे बातचीत करें।'

यमराजने 'तथास्तु' कहकर कहा—'मेरेद्वारा तुम्हें वापस लौटाये जानेपर तुम्हारे पिता पहलेकी भाँति तुम्हें पहचान लेंगे, मृत्युके मुखसे छूटे हुए तुम्हें देखकर वे सुखसे सोयेंगे और उनका क्रोध शान्त हो जायगा।'

पितृभक्त बालककी पहली कामना पूर्ण हुई। नचिकेताने इस प्रकार पिताका सुख-सम्पादन कर फिर समस्त जीवोंके मङ्गलके लिये स्वर्गके साधनभूत अग्नितत्त्वको जाननेके लिये यमराजसे कहा—'मृत्यो! स्वर्गमें कुछ भी भय नहीं है, वहाँ न आप (मृत्यु) हैं, न किसीको बुढ़ापेका भय है, भूख-प्याससे पार होकर और शोकसे तरकर वहाँ पुरुष बड़ा आनन्द भोगता है। अतएव मृत्यो! आप उस स्वर्गके साधनभूत अग्निको यथार्थरूपसे जानते हैं। मुझ श्रद्धावान्को आप उसे बतलाइये। कारण, उसे जानकर लोग स्वर्गमें रहकर अमृतत्व (देवत्व) को प्राप्त होते हैं। यह मैं दूसरा वर माँगता हूँ।'

यमराजने बड़ी तपस्या करके अग्निविद्याको जाना था। वास्तविक अधिकारी बिना इस विद्याको देनेसे दाता और ग्रहीता दोनोंमेंसे किसीका भी कल्याण नहीं होता; परंतु आज नचिकेताको उत्तम जिज्ञासु जानकर अग्नितत्त्वका महत्त्व बतलाते हुए यमराज बोले—'नचिकेता! मैं उस स्वर्गके साधनभूत अग्निको भलीभाँति जानता हूँ और तुम्हें बतलाता हूँ, तुम इसे अच्छी तरह सुनो। यह अग्नि अनन्त (स्वर्ग) लोककी प्राप्तिका साधन है, विराट्रूपसे जगत्की प्रतिष्ठाका मूल कारण है। इसे तुम विद्वानोंकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित जानो।'

इसके अनन्तर यमराजने नचिकेताको समस्त लोकोंके आदिकारण उस अग्निकी और उसके लिये जैसी और जितनी ईंटें चाहिये, वे जिस प्रकार रखी जानी चाहिये, वह सब बतलाया अर्थात् यज्ञस्थानके निर्माणके लिये आवश्यक सामग्रियों और अग्निचयन करनेकी विधिको बतलाया। तीक्ष्णबुद्धि नचिकेताने यमराजकी कही हुई सारी बातोंको दुहराकर अपनी प्रतिभाको सिद्ध कर दिया। यमराजको बालककी अप्रतिम योग्यता देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने उसके माँगे हुए तीन वरोंके अतिरिक्त चौथा वर यह दिया कि 'मैंने जिस अग्निकी बात तुमसे

कही है वह तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगी और तुम इस विचित्र रत्नोंवाली शब्दमयी मालाको भी ग्रहण करो ।' नचिकेताका तेजोदीप्त मुखमण्डल प्रसन्नतासे भर गया । यमराज फिर बोले—'जिसने यथार्थरूपसे माता-पिता और आचार्यके उपदेशानुसार तीन बार नाचिकेत अग्निकी उपासना कर यज्ञ, वेदाध्ययन और दान किया है, वह जन्म और मृत्युको तर जाता है और जब वह भाग्यवान् पुरुष उस अग्निको ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ ज्ञानसम्पन्न पूजनीय देव जानता है, तब वह शान्तिको प्राप्त होता है । जो नाचिकेत अग्निके स्वरूप, संख्या और आहुति देनेकी प्रणालीको जानकर उसकी उपासना करता है वह देहपातसे पहले ही मृत्युके पाशको तोड़कर और शोकरहित होकर स्वर्गमें आनन्दको प्राप्त होता है ।'

नाचिकेत अग्निको स्वर्गका साधन बतलाकर और उसकी कुछ और प्रशंसा करके यमराजने नचिकेतासे कहा—'नचिकेता ! अब तुम तीसरा वर माँगो ।'

अधिकारिपरीक्षा

पिताकी प्रसन्नताका वर इस लोकके लिये और स्वर्गके साधनभूत अग्निका ज्ञान परलोकके लिये वरकर नचिकेता सोचता है कि क्या स्वर्गसुखमें ही जीवका परम कल्याण है ? स्वर्गसे भी तो पुण्यात्माओंका पुण्य क्षय होनेपर वापस लौटना सुना जाता है, अतएव अब तीसरे वरसे उस मृत्युतत्त्व या आत्मतत्त्वको जानना चाहिये, जिसके जाननेपर और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता । यों सोचकर 'आत्मा परलोकमें जाता है या नहीं, मरनेके बाद आत्माकी क्या गति होती है ?' इस आत्मज्ञानके जटिल प्रश्नको समझनेके लिये नचिकेताने यमराजसे कहा—'मृत मनुष्यके विषयमें एक संशय है । कोई कहते हैं—शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके अतिरिक्त देहान्तर-सम्बन्धी कोई अन्य आत्मा है । कोई कहते हैं, ऐसा कोई स्वतन्त्र आत्मा नहीं है । प्रत्यक्ष या अनुमानसे इस विषयका कोई निर्णय नहीं हो सकता । आप मृत्युके अधिपति देवता हैं, अतएव मैं यह आत्मतत्त्व आपसे जानना चाहता हूँ । यही तीसरा वर मैं माँगता हूँ ।'

नचिकेताका महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुनकर यमराजने सोचा—'ऋषिकुमार बालक होनेपर भी है बड़ा ही बुद्धिमान्, कैसे गोपनीय तत्त्वको जानना चाहता है, परंतु आत्मतत्त्व उपयुक्त पात्रको ही बतलाना उचित है, अनधिकारीके समीप आत्मतत्त्व प्रकट करनेसे हितके स्थानमें प्रायः अनिष्ट ही हुआ करता है । इसलिये पहले पात्र-परीक्षाकी आवश्यकता है ।' यों विचारकर यमराजने इस तत्त्वकी कठिनताका वर्णन करके नचिकेताको टालना चाहा । यमराजने कहा—'देवताओंको भी पहले इस विषयमें संदेह हुआ था । इस आत्मतत्त्वका समझना सुगम नहीं है, यह बड़ा ही सूक्ष्म विषय है, अतएव नचिकेता ! तुम दूसरा वर माँगो, इस वरके लिये मुझे वाध्य मत करो ।'

नचिकेता विषयकी कठिनताकी बात सुनकर घबराया नहीं, परंतु और भी अधिक दृढ़तासे कहने लगा—'मृत्यो ! पूर्वकालमें देवताओंको भी जब इस विषयमें संदेह हुआ था और जब आप भी कहते हैं कि यह विषय सुगम नहीं है, तब मुझे इस विषयका समझानेवाला आपके समान दूसरा वक्ता ढूँढ़नेपर भी कोई नहीं मिल सकता । आप किसी दूसरे वरके लिये कहते हैं, परंतु मैं समझता हूँ कि इसकी तुलनाका और कोई वर नहीं है; क्योंकि यही कल्याणकी प्राप्तिका हेतु है । अतएव मुझे यही समझाइये ।'

किसी विषयको जब नहीं बतलाना होता है, तब सबसे पहले उसकी कठिनताका भय दिखलाया जाता है । यमराजने भी परीक्षाके लिये यही किया, परंतु नचिकेता इस परीक्षामें उत्तीर्ण हो गया । अबकी बार यमराजने और भी कठिन परीक्षा लेनी चाही । साधककी परीक्षाके लिये दो ही प्रधान शस्त्र होते हैं— एक 'भय' और दूसरा 'लोभ' । नचिकेता भयसे नहीं डिगा, इसलिये अब यमराजने दूसरे शस्त्र लोभका उसपर प्रयोग किया । यमराजने कहा—'बालक ! तुम ऐसे वरको लेकर क्या करोगे ? तुम इन सुखकी विशाल सामग्रियोंको ग्रहण करो— सौ-सौ वर्ष जीनेवाले पुत्र-पौत्र माँगो, गौ आदि बहुत-से पशु,

हाथी, सुवर्ण, घोड़े और विशाल भूमण्डलका राज्य माँगो और इन सबको भोगनेके लिये जितने वर्ष जीनेकी इच्छा हो उतने ही वर्ष जीते रहो । इतना ही नहीं, इसीके समान और कोई वर चाहो तो उसे और प्रचुर धनके साथ दीर्घजीवन माँग लो; अधिक क्या, इस विशाल भूमिके तुम सम्राट् बन जाओ । मैं तुम्हें अपनी सारी कामनाओंका इच्छानुसार भोगनेवाला बनाये देता हूँ । इसके सिवा जो-जो भोग मृत्युलोकमें दुर्लभ हैं, उन सबको तुम अपने इच्छानुसार माँग लो । ये रथोंसमेत और वाद्योंसमेत जो सुन्दर रमणियाँ हैं, ऐसी रमणियाँ मनुष्योंको नहीं मिल सकतीं । मेरे द्वारा दी हुई इन सारी रमणियोंसे तुम अपनी सेवा कराओ, परंतु, नचिकेता ! मरण-सम्बन्धी (मृत्युके बाद आत्मा रहता है या नहीं ? यह) प्रश्न मत पूछो ।'

संसारमें ऐसा कौन है जो बिना चाहे इतनी भोग-सामग्रियों और उनके भोगनेके लिये दीर्घजीवनव्यापी सामर्थ्य प्राप्त होनेपर भी उन्हें नहीं चाहेगा, सुनते ही लार टपकने लगती है, परंतु विचार और वैराग्यकी उच्च भूमिकापर पहुँचा हुआ नचिकेता अटल और अचल है, यमराजके प्रलोभनोंका उसके मनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा ।

नचिकेताने कहा—'मृत्यो ! आपने जिन भोग्य वस्तुओंका वर्णन किया है वे कलतक रहेंगी या नहीं, इसमें भी संदेह है । ये मनुष्यकी सारी इन्द्रियोंके तेजको हरण कर लेती हैं । आपने जो दीर्घजीवन देना चाहा है, वह भी अनन्तकालकी तुलनामें बहुत थोड़ा ही है । जब ब्रह्माका जीवन भी अल्पकालका है तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? अतएव मैं यह सब नहीं चाहता । आपके रथ, घोड़े, हाथी और नाच-गान आपके ही पास रहें ।

'धनसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता, जहाँ केवल कामनाका ही विस्तार है, वहाँ तृप्ति कैसी ? भोगविलासकी तृष्णामें, अभाव और अपूर्णतामें अतृप्ति और आकाङ्क्षाके सिवा और क्या रह सकता है । अतएव **'वरस्तु मे वरणीयः स एव'** (कठ० १ । १ । २७)—मुझे तो वही आत्मतत्त्वरूप वर चाहिये । भला, अजर और अमर देवताओंके समीप आकर नीचेके मृत्युलोकका जरा-मरणशील कौन ऐसा मनुष्य होगा जो अस्थिर और परिणाममें दुःख देनेवाले विषयोंको चाहेगा ? शरीरके सौन्दर्य और विषयभोगके प्रमादोंको अनित्य और क्षणभङ्गुर समझकर भी कौन ऐसा समझदार होगा जो संसारके दीर्घजीवनसे आनन्द मानेगा ? अतएव मृत्यो ! जिसके विषयमें लोग संशय करते हैं, जो महान् परलोकके विषयमें निर्णयात्मक आत्मतत्त्व-विज्ञान है, मुझे वही दीजिये ।'

यह आत्मतत्त्वसम्बन्धी वर गूढ़ होनेपर भी नचिकेता इसके सिवा दूसरा (अज्ञानी पुरुषोंद्वारा इच्छित) अनित्य वर नहीं चाहता ।

श्रेय और प्रेय

यमराजने नचिकेताको परम वैराग्यवान्, निर्भीक और उत्तम अधिकारी समझकर परम प्रसन्न होकर कहा—'नचिकेता ! एक वस्तु श्रेय (कल्याण) है और दूसरी वस्तु है प्रेय (श्रेय मनुष्यके वास्तविक कल्याण मोक्षका नाम है और प्रेय स्त्री-पुत्र, धन-मानादि प्रिय लगनेवाले पदार्थोंका नाम है) । इन दोनोंका भिन्न-भिन्न प्रयोजन है और ये अपने-अपने प्रयोजनमें मनुष्यको बाँधते हैं । इन दोनोंमेंसे जो श्रेयको ग्रहण करता है उसका कल्याण (मोक्ष) होता है और जो प्रेयको वरण करता है वह आपातरमणीय धन-मानादिमें फँसकर पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाता है ।

'श्रेय और प्रेय दोनोंमेंसे मनुष्य चाहे जिसे ग्रहण कर सकता है । बुद्धिमान् पुरुष श्रेय और प्रेय दोनोंके गुण-दोषोंको भलीभाँति समझकर उनका भेद करता है और नीरक्षीरविवेकी हंसकी भाँति प्रेयको त्यागकर श्रेयको ग्रहण करता है, परंतु मूर्ख लोग योगक्षेमके लिये अर्थात् प्राप्त स्त्री, पुत्र, धनादिकी रक्षा और अप्राप्त भोग्य पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये प्रेयको ही ग्रहण करते हैं । नचिकेता ! तुमने मेरे द्वारा बार-बार प्रलोभन दिखलाये जानेपर भी जो प्रिय स्त्री-पुत्रादि और प्रियरूप अप्सरादि समस्त भोग्य विषयोंको अनित्य समझकर त्याग दिया, इस द्रव्यमयी निकृष्ट गतिको तुम नहीं प्राप्त हुए, जिसमें कि साधारणतः बहुत-से मनुष्य डूबे रहते हैं ।

'विद्या और अविद्या—ये दोनों प्रसिद्ध हैं, ये दोनों एक दूसरेसे अत्यन्त विपरीत और भिन्न-भिन्न ओर ले जानेवाली हैं। नचिकेता! मैं तुम्हें विद्याका अभिलाषी मानता हूँ; क्योंकि तुम्हें बहुत-से भोग भी नहीं लुभा सके।

'अविद्यामें पड़े हुए भी जो लोग अपनेको महान् बुद्धिमान् और पण्डित मानते हैं वे भोगकी इच्छा करनेवाले मूढ़जन अंधेसे चलाये हुए अंधोंकी भाँति चारों ओर ठोकरें खाते भटकते-फिरते हैं।

'धनके मोहसे मोहित, प्रमादमें रत रहनेवाले मूर्खको परलोक या कल्याणका मार्ग दीखता ही नहीं। वह तो केवल यही मानता है कि स्त्री-पुत्रादि भोगोंसे भरा हुआ एकमात्र यही लोक है, इसके सिवा परलोक कोई नहीं है। इसी मान्यताके कारण उसे बारंबार मेरे (मृत्युके) अधीन होना पड़ता है।

'नचिकेता! आत्मज्ञान कोई साधारण-सी बात नहीं है। अनेक लोग तो ऐसे हैं जिन्हें आत्माके सम्बन्धकी बातें सुननेको ही नहीं मिलतीं। बहुत-से लोग सुनकर भी इसे जान नहीं सकते, आत्माका वक्ता भी आश्चर्यरूप कहीं ही कोई मिलता है और इस आत्माको प्राप्त करनेवाला भी कहीं कोई एक निपुण पुरुष ही होता है, इसी प्रकार किसी निपुण आचार्यसे शिक्षा-प्राप्त कोई विरला ही पुरुष आश्चर्यरूप आत्माको जाननेवाला होता है।

'किसी साधारण मनुष्यके विवेचनसे आत्माका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, आत्मज्ञान तभी होता है जब उसका उपदेश किसी अनन्य (अभेददर्शी) समर्थ पुरुषके द्वारा किया जाता है; क्योंकि यह (आत्मा) सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होनेके कारण सर्वथा अतर्क्य है। यह ज्ञान तर्कसे प्राप्त नहीं होता, यह तो किसी अलौकिक ब्रह्मज्ञानीके द्वारा बतलाये जानेपर ही प्राप्त होता है। नचिकेता! तुमने ऐसा पुरुष पाया है, वास्तवमें तुम सत्यधारणासे सम्पन्न हो। तुम-जैसा जिज्ञासु मुझे मिलता रहे।

'नचिकेता! मैं जानता हूँ कि धनराशि अनित्य है और अनित्य वस्तुओंसे नित्य वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती। यों जानते हुए भी मैंने अनित्य पदार्थोंसे स्वर्गसुखके साधनभूत नाचिकेत अग्निका चयन किया है। इसीसे मैंने यह आपेक्षिक अर्थात् अन्यान्य पदोंकी अपेक्षा नित्य (अधिक काल-स्थायी) यमराजका पद पाया है। परंतु वत्स! तुम तो सब प्रकारसे श्रेष्ठ हो, तुमने उस परम पदार्थके सम्मुख जगत्की चरम सीमाके भोग, प्रतिष्ठा, यज्ञफलरूपी हिरण्यगर्भका पद, अभयकी मर्यादा (चिरकालस्थायी जीवन), स्तुत्य और महान् ऐश्वर्यको हेय समझकर धैर्यके द्वारा त्याग दिया है। यथार्थमें तुम बड़े गुणसम्पन्न हो।

'यद्यपि यह आत्मा—यह नित्य प्रकाशरूप आत्मा जीवरूपसे हृदयमें विराजमान है, तथापि सहजमें इसके दर्शन नहीं होते; क्योंकि यह अत्यन्त ही सूक्ष्म है, यह अत्यन्त गूढ़ है, समस्त जीवोंके अन्तरमें प्रविष्ट है, बुद्धिरूपी गुफामें छिपा हुआ है, राग-द्वेषादि अनर्थमय देहमें स्थित है और सबसे पुराना है। जब कोई धीर पुरुष इस देवताको अध्यात्मयोगके द्वारा अर्थात् चित्तको विषयोंसे निवृत्तकर उसे आत्मामें समाहित करता है, तब इसे जानकर वह हर्ष और शोकसे तर जाता है। कारण, आत्मामें हर्ष और शोकको कहीं भी स्थान नहीं, ये तो वास्तवमें केवल बुद्धिके विकारमात्र हैं। जिसने ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके द्वारा आत्मतत्त्वको सुनकर उसे सम्यक् रूपसे धारण कर लिया है और धर्मयुक्त इस सूक्ष्म आत्माको जड शरीरादिसे पृथक् समझकर प्राप्त कर लिया है वही आनन्दधामको पाकर अतुल आनन्दमें रम जाता है। मैं समझता हूँ कि नचिकेताके लिये भी वह मोक्षका द्वार खुला हुआ है।'

यमराजके वचनोंसे अपनेको आत्मज्ञानका अधिकारी समझकर नचिकेताने कहा—'भगवन्! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो धर्म और अधर्मसे अतीत तथा इस कार्य और कारणरूप प्रपञ्चसे पृथक् एवं भूत तथा भविष्यत्से भिन्न जिस सर्वप्रकारके व्यावहारिक विषयोंसे अतीत परब्रह्मको आप देखते हैं उसे बतलाइये।' (क्रमशः)

बहुत समयसे अप्राप्य कुछ विशिष्ट साहित्यका पुनर्मुद्रण

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

आजसे लगभग १७ वर्ष पूर्व—संवत् २०२८ वि०में **'श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन'** प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तकमें सुललित चित्ताकर्षक भाषामें भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर, मनोहारिणी व्रज-लीलाओंका सरस, हृदयग्राही सजीव चित्रण एक अति आदरणीय महात्माके कृपाप्रसादसे चित्रित हुआ है। यद्यपि इसका प्रथम संस्करण दस हजार छापा गया, तथापि सहृदय पाठकोंने उसे इतना पसंद किया और हृदयसे अपनाया कि उसकी सभी प्रतियाँ बहुत शीघ्र समाप्त हो गयीं। तभीसे इसके पुनर्मुद्रणके लिये पाठकोंका प्रेमाग्रह बराबर बना रहा; किंतु समयाभाव आदि कतिपय कारणोंसे चाहते हुए भी इसका पुनर्मुद्रण अबतक न हो सका। अब प्रभु-कृपासे यह दुर्लभ लीला-ग्रन्थ छपकर तैयार है। आकार २०''×३०'', सजिल्द, पृष्ठ-संख्या-५९४, रंगीन चित्र-१२, मूल्य-२५.०० रु० मात्र, डाकखर्च अलग। इच्छुक सज्जनोंको मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये, कारण, यह संस्करण सीमित संख्यामें ही छपा है।

श्रीराधा-माधव-चिन्तन

श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा लिखित इस ग्रन्थमें श्रीराधा तथा श्रीकृष्णके स्वरूप-तत्त्व-विवेचनके साथ ही उनकी अभिन्नरूपता और सम्बन्धोंपर शास्त्रीय परिप्रेक्ष्यमें विस्तारसे तात्त्विक प्रकाश डाला गया है। श्रीराधा-कृष्ण-तत्त्वको समझनेके लिये इसका अनुशीलन उपयोगी है। आकार—डिमाई १८''×२२'', पृष्ठ-संख्या-१०१६, रंगीन चित्र-९, मूल्य-२२.०० रु० मात्र, डाकखर्च अतिरिक्त।

पदरत्नाकर

नामके अनुरूप ही यह **'पदरत्नाकर'** श्रीराधामाधव तथा श्रीकृष्णकी रसमयी व्रज-लीलाओंके सजीव शब्द-चित्रमय अमूल्य रत्नोंका समुद्र है। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा रचित, लोकहितसे पूर्ण एवं मताग्रहशून्य इस काव्य-संग्रहका प्रचार-प्रसार जगत्में शान्ति और आनन्दकी वृद्धि करनेमें सहायक सिद्ध हो सकता है। आकार—डिमाई १८''×२२'', पृष्ठ-संख्या ९८८, रंगीन चित्र-८, मूल्य-१४.०० रु० मात्र, डाकखर्च अलग।

सूर-विनय-पत्रिका

श्रीसूरदासजीके विनयके पदोंका सरल भावार्थसहित यह संग्रह हृदयमें भगवद्भक्तिके पावन भावोंका संचारकर **'आत्मकल्याण-पथ'**का अनुगामी बनानेमें सहायक है। इस दृष्टिसे यह नित्य पठनीय, मननीय और परमोपयोगी होनेसे साधकोंके लिये सर्वदा संग्रहणीय है। पृष्ठ-संख्या-३२४, रंगीन चित्र-१, मूल्य-४.०० रु० मात्र।

पद्मपुराणका 'श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्' (सानुवाद)

'श्रीविष्णुसहस्रनाम' कई हैं, किंतु भगवान् शंकरद्वारा प्रोक्त यह स्तोत्र बहुत प्राचीन तथा भक्तोंको अत्यन्त प्रिय है। भगवान्के नामोंका क्रमशः संग्रह इसकी विशेषता है। उदाहरणार्थ—मत्स्यावतासे लेकर कल्कि-अवतारके नामोंका इसमें पृथक्-पृथक् क्रमशः वर्णन है। इसके सभी श्लोक मन्त्रवत् और कल्याणप्रद हैं। इसके पाठ-अनुष्ठानसे सहज ही श्रेय-प्रेयकी प्राप्ति होती है। नित्य पाठ करनेयोग्य सुविधाजनक पाकेट-साइजमें, मूल्य-०.६० पैसे मात्र।

पंजीकृत-संख्या-जी० आर०—१३

श्रीरामस्तवराज और श्रीरामरक्षास्तोत्र

श्रीसनत्कुमार-संहितामें वर्णित नारदोक्त 'श्रीरामस्तवराज' गीताप्रेससे प्रथम बार पुस्तकरूपमें प्रकाशित किया गया है। इसका नित्य पाठ तथा अनुष्ठान सब प्रकारके श्रेयकी प्राप्ति करानेवाला है। इस छोटी-सी पु[illegible] 'श्रीरामस्तवराज'के सरल हिंदी-अनुवादके साथ 'श्रीरामरक्षास्तोत्र (सानुवाद)' एवं श्रीरामके १०८ ना[illegible] दिये गये हैं। 'श्रीरामरक्षास्तोत्र'के महत्त्वसे (जो पृथक् पुस्तकरूपमें भी बहुत पहलेसे गीताप्रेससे प्रकाशित है) अधिकांशतः लोग परिचित हैं ही। अब नित्य पाठ करनेयोग्य इन तीनों महत्त्वशाली स्तोत्रोंका एक ही जगह समावेश हो जानेसे इस पुस्तककी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। मूल्य-०.६० पैसे मात्र।

नवीन आकार-प्रकारमें आकर्षक रूपसज्जा युक्त कुछ पुस्तकें—

क्रम-सं० पुस्तकका नाम	मूल्य रु० पै०
१. श्रीदुर्गासप्तशती (सटीक)	४.००
२. स्तोत्ररत्नावली	४.५०
३. एक लोटा पानी	३.००
४. स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा	२.००
५. श्रीरामचरितमानस सुन्दरकाण्ड (मूल)	१.००
६. श्रीरामचरितमानस सुन्दरकाण्ड (मूलमात्र) छोटे आकारमें	०.६०
७. श्रीरामचरितमानस किष्किन्धाकाण्ड (सटीक)	०.६०
८. श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् (मूलमात्र) छोटे आकारमें	०.३५
९. श्रीगजेन्द्रमोक्ष (पदच्छेद, अन्वय, अन्वयार्थ और भावार्थसहित)	०.३०
१०. श्रीरामरक्षास्तोत्रम्, सानुवाद (छोटे आकारमें)	०.२५
११. शिवचालीसा	०.२५
१२. सत्संगकी कुछ सार बातें (छोटे आकारमें)	०.४०
१३. श्रीराधा-माधव-रससुधा	०.७०

ग्राहक महोदयोंसे क्षमा-प्रार्थना

इस वर्ष 'कल्याण'के ६२वें वर्षका विशेषाङ्क 'शिक्षाङ्क' ग्राहकों तथा पाठकोंकी सेवामें कुछ विलम्बसे पहुँच सका। इसके साथ ही मासिक तीसरा अङ्क भी कई अपरिहार्य कारणसे अत्यधिक विलम्बसे ही प्रेषित किया जा रहा है। जिसके लिये हमें अत्यन्त खेद है। वस्तुतः इस वर्ष 'कल्याण'के छपाई आदि साधनोंकी प्रक्रियामें कई परिवर्तन करने पड़े। "कल्याण'की ग्राहक-संख्या उत्तरोत्तर बढ़नेके कारण यह आवश्यक हो गया कि छपाई आदिके साधनोंको भी बढ़ाया जाय, इसके लिये प्रिंटिंगकी नयी टेक्नोलोजीका आश्रय लेना पड़ा। इसी कारण 'कल्याण'की साइज तथा छपाई आदिमें पूर्वकी अपेक्षा स्पष्ट परिवर्तन परिलक्षित है। नये कार्यके प्रारम्भमें विभिन्न कठिनाइयों और समस्याओंका होना स्वाभाविक है। इसीलिये न चाहनेपर भी अनावश्यक विलम्बके कारण पाठकोंको जो असुविधा हुई है, इसके लिये हम क्षमा-प्रार्थी हैं। साथ ही भविष्यमें 'कल्याण'के अङ्क पाठकोंको नियमितरूपसे मिलते रहें, इसके लिये हम पूर्ण सचेष्ट हैं।

—व्यवस्थापक—'कल्याण'